नये एकांकी
अज्ञेय

नये एकांकी

हिन्दी के नये और श्रेष्ठ एकांकियों का प्रतिनिधि संकलन

सम्पादक
सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
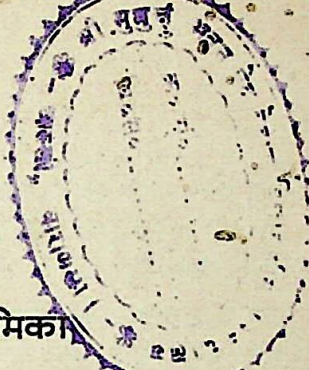
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे (3.50)

सातवाँ संस्करण : 1977 © सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
साधना प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली, में मुद्रित
NAYE EKANKI (One-Act Plays), Edited by Ajneya

भूमिका

हिन्दी में एकांकी नाटकों की परम्परा लम्बी नहीं है, न संख्या ही अधिक है; फिर भी इस प्रकार के छोटे संग्रह के लिए संकलन का काम कठिन ही होता है, और किसी संग्रह के लिए यह दावा नहीं किया जा सकता कि उसका चुनाव अन्तिम रूप से श्रेष्ठ और प्रामाणिक है।

प्रस्तुत संग्रह में निर्वाचन करते समय दो बातें मुख्य रूप से ध्यान में रखी गई थीं। पहली यह कि एकांकी अच्छे हों, दूसरी यह कि वे यथासंभव नये हों। 'अच्छे' की कदाचित् और व्याख्या करनी होगी; 'नये' से अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के संकलनों के लिए कम से कम अतिपरिचित तो न हों, और अगर बिलकुल ही नये हों तो और भी अच्छा। उपस्थित पांच नाटकों में से चार पहले कभी संकलन-ग्रन्थों में नहीं आए।

और यदि लेखकों के पक्ष से विचार किया जाए तो लक्षित होगा कि यद्यपि संगृहीत नाटककार सभी कुशल नाट्य-शिल्पी हैं, तथापि उनकी नामसूची ऐसे अन्य संकलनों की लेखक-सूची से बहुत भिन्न है।

'अच्छे' की व्याख्या में उन अन्य गुणों की ओर ध्यान देना होगा कि जिनका भी संकलन में ध्यान रखा गया था। नाटक आधुनिक प्रवृत्तियों का या अन्यतम प्रवृत्ति का प्रतिबिंब हो; प्रत्येक एकांकी अपने लेखक का प्रतिनिधित्व करे; पूरा चयन एकांकी के विभिन्न प्रकारों के नमूने प्रस्तुत कर सकें।

फिर प्रत्येक नाटक सुरुचिपूर्ण हो, सुपाठ्य भी हो और अभिनेय भी—विशेषकर शिक्षालयों की या अन्य नाट्य-समितियों द्वारा अभिनय किए जाने के लिए उपयुक्त। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'शुभ्र पुरुष' को छोड़कर, जो एक तो रेडियो के लिए लिखा गया श्रव्य है, दूसरे गीतिमय है, सभी इसी कसौटी पर पूरे उतरते हैं। श्री भारतभूषण अग्रवाल का 'महाभारत की एक सांझ' यद्यपि रेडियोरूपक के रूप में ही मुद्रित हुआ है तथापि यह सर्वथा अभिनेय है और उसका रंगानुकूल रूपान्तर सहज ही किया जा सकता है।

जिन नाटककारों की रचनाएं इस संकलन में आई हैं, उन सभी के प्रति सम्पादक आभार प्रकट करता है।

—'अज्ञेय'

सूची

भूमिका — ३
एकांकी नाटक : पृष्ठभूमि — ७
वसन्त ('अज्ञेय') — १३
महाभारत की एक सांझ (भारतभूषण अग्रवाल) — २३
भोर का तारा (जगदीशचन्द्र माथुर) — ३९
एक दिन (लक्ष्मीनारायण मिश्र) — ५७
शुभ्र पुरुष (सुमित्रानन्दन पन्त) — ८३
परिशिष्ट — ९५

एकांकी नाटक : पृष्ठभूमि

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाटक को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। काव्य के दो मुख्य विभाग हैं: श्रव्य और दृश्य, और नाटक को दृश्य काव्य माना गया है। संस्कृत में काव्य और नाटक में कोई मौलिक अंतर नहीं रहा; दोनों का उद्देश्य रसोद्रेक रहा और यद्यपि संस्कृत नाटक के स्वर्ण-युग में कुछ नाटक ऐसे भी हुए, जिनमें आधुनिक परिकल्पना के अनुकूल संघर्ष, घटनाओं का घात-प्रतिघात और चरित्र-चित्रण के गुण पाए जाते हैं तथापि साधारणतया उसमें काव्य और नाटक एक-दूसरे के बहुत निकट रहे और दसवीं शती के ह्रास-काल में तो नाटक और काव्य का अंतर मिट ही-सा गया। 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' जैसे प्राचीन नाटक आज की परिकल्पना के अधिक निकट हैं और 'कर्पूरमंजरी' या 'रत्नावली' अधिक दूर।

संस्कृत नाटक में रचयिता का आग्रह आदर्श की ओर अधिक होता है, घटना या चरित्र-चित्रण की ओर उतना नहीं। इस प्रवृत्ति की तुलना भारतीय चित्रकला की प्रवृत्ति से भी की जा सकती है, वहां भी तादृशत्व पर इतना बल नहीं दिया जाता था जितना आदर्शीकृत रूपाकार पर। फलतः संस्कृत नाटक के पात्र विशिष्ट व्यक्ति न होकर प्रायः व्यक्ति-प्रकार होते रहे और शास्त्रों में भी उनका विभागीकरण प्रकार के आधार पर ही होता रहा।उपर्युक्त नाटकों में 'मृच्छकटिक' का चारुदत्त और शकार इसके अपवाद हैं। लेकिन संस्कृत-परंपरा में इस ढंग के पात्र अपवाद रूप से ही आए; नाटक की साधारण प्रवृत्ति ऐसे गुण-दोषयुक्त, व्यक्ति-वैचित्र्य-सम्पन्न चरित्रों की परिकल्पना की ओरन हीं थी।

आधुनिक नाटकों से संस्कृत नाटकों की तुलना करने पर एक और

बात विशेष रूप से लक्षित होती है। संस्कृत में दुःखान्त नाटक नहीं हैं। मृत्यु, हत्या आदि त्रासदायक घटनाओं का वर्णन और प्रदर्शन संस्कृत नाटक में वर्जित हैं। एक ही दो अपवाद होंगे जहां पर नाटक में किसी पात्र की मृत्यु दिखाई गई है। 'नागानन्द' में ऐसा हुआ भी है तो मृत व्यक्ति को फिर दैवी प्रसाद से पुनर्जीवित कर दिया जाता है। इसके प्रतिकूल ग्रीक नाटक से उद्‌भूत यूरोपीय नाट्य-परम्परा में दुःखान्त नाटक का विशिष्ट स्थान रहा और संघर्ष तो पाश्चात्त्य नाटक का प्राण ही है। इस मौलिक भेद को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय विचारधारा मूलतः आशावादी रही है। उसका विश्व-दर्शन यह मानता है कि सृष्टि-मात्र की प्रगति एक चरम और सम्पूर्ण आनन्द की स्थिति की ओर है, भले ही मार्ग में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव होता रहे। इसलिए भारतीय साहित्यकार की दृष्टि से दुःख को देखकर वहां विलम जाना, सम्पूर्ण को न देखकर एक अंश को देखना ही है। अर्थात् दुःखांत नाटक जीवन का अधूरा, खंडित और विकृत चित्र ही सिद्ध होता है।

संस्कृत नाटक के घटना-विकास को जिन पांच विभागों या सधियों में बांटा गया है, उनका संबंध इसी जीवन-दर्शन से है। नाटक का आरंभ अथवा 'मुख' वह संधि है जहां उसके मुख्य कथासूत्र की सूचना होती है, उदाहरणतया 'रत्नावली' नाटक में उदयन और सागरिका का दृग्-मिलन अनंतर उनके मिलन का सूचक है। इन प्रथम सूचनाओं के अनंतर घट-नाओं की प्रगति दोनों पात्रों को अलग-अलग ले जाती हुई जान पड़ती है, लेकिन सखी सुसंगता के द्वारा दोनों की भेंट होती है। यह दूसरी संधि 'प्रतिमुख' संधि है। तीसरी 'गर्भ' संधि में नाना बाधाएं उत्पन्न होती हैं। जिनसे पाठक या दर्शक को संदेह होने लगता है कि आरंभ में जगाई हुई मधुर आशा प्रतिफलित होगी या नहीं। 'शकुन्तला' नाटक में दुर्वासा का शाप और राजसभा में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि गर्भ-संधि के उदाहरण हैं। चौथी संधि वह होती है जबकि बाधाओं और उत्कंठा के बाद आशा फिर अंकुरित होती है और अंशतः विश्वास में परिणत हो

जाती है। अंगूठी को देखकर दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हो आना इसकी उदाहरण है। इसीको 'विमर्श' संधि कहते हैं। पांचवीं और अंतिम 'निर्वहण' संधि है, जिसमें घटना सुखमय निष्पत्ति पर पहुंचती है और पाठक अथवा दर्शक की आशा फलित होकर तृप्ति देती है। ये पांच संधियां एक सम्पूर्ण की रचना करती हैं और वह सम्पूर्ण मानव-जीवन का प्रतिबिंब है—मानव-जीवन में भी बाधाएं और कठिनाइयां आती हैं, लेकिन उसका ध्येय स्पष्ट, निश्चित और आनन्दमय है।

संस्कृत नाटक के घटना-विकास का यह विभागीकरण पाश्चात्य नाटक के विभागीकरण से बहुत भिन्न तो नहीं है, लेकिन पाश्चात्य नाटककार क्योंकि संघर्ष को ही नाटक का प्राण मानता है, इसलिए निर्वहण उसके संघर्ष की चरम परिणति ही बन जाती है, वह दुःखांत हो अथवा सुखांत। पाश्चात्य नाटककार नाटक की घटना को विश्व-जीवन का ही एक अंग मानकर उसे सम्पूर्ण परिपार्श्व में देखता हुआ नहीं चलता, बल्कि उतनी घटना को ही सम्पूर्ण मानकर उसे रूपाकार देता है। पाश्चात्य नाटक में घटनाओं का घात-प्रतिघात अधिक महत्व रखता है और उन्हींके बीच में व्यक्तियों के चरित्र-उभरकर हमारे सामने आते हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटक को हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आरंभ हुआ मान सकते हैं। भारतेन्दु-काल में जो बहुमुखी जागृति हुई, जातीय आत्मगौरव की जो भावना जागी, उसने साहित्य को एक ओर प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर समकालीन कथावस्तु को लेकर समाज का उद्बोधन करने की ओर भी प्रवृत्त किया। भारतेन्दु और उनके समकालीनों तथा परवर्तियों ने एक ओर संस्कृत के नाटकों को हिन्दी में रूपांतरित किया तो दूसरी ओर 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेरनगरी' आदि मौलिक नाटक भी लिखे। यद्यपि हिन्दी नाटक का संस्कृत नाटक से कोई अटूट परंपरागत संबंध नहीं प्रमाणित किया जा सकता, तथापि उसका नया उत्थान चला संस्कृत के ही ढंग पर। जिसे वास्तव में आधुनिक नाटक कहना चाहिए वह १९वीं शती के उत्तरकाल के यूरोपीय नाटककारों से

हमारा परिचय हो जाने के बाद ही प्रकट हुआ। इनमें इब्सन और बर्नार्ड शॉ विशेष उल्लेखनीय हैं। यूरोप में भी सन् १८८० में इब्सन के नाटकों के प्रचार के बाद एक गहरा परिवर्तन आया और यूरोप के आधुनिक नाटक का आरंभ भी उसी समय से माना जा सकता है। इसी काल से नाटक अभिव्यंजना के एक प्रकार के रूप में उपन्यास का प्रतिद्वन्द्वी होकर आया। इब्सन, चेखोव, स्ट्रिंडबर्ग, हाप्टमैन, मेटरलिंक, रोस्तांद, शॉ, बैरी, ओ' नील आदि नाटककार नाटक-क्षेत्र के ही नहीं, आधुनिक साहित्य-क्षेत्र के भी आलोक-स्तम्भ हैं। साहित्यिक अवदान की दृष्टि से देखा जाए तो उस युग के नाटककार के समकक्ष इस युग का विरला ही उपन्यासकार होगा।

उपन्यास की अपेक्षा नाटक कहीं अधिक सुसंगठित और तीव्र साहित्य-प्रकार है। आधुनिक नाटक का अभिनय-काल कदाचित् ही तीन घण्टे का होता है, बहुधा तो वह डेढ़ या दो घण्टे का ही होता है, जबकि उपन्यास के पढ़ने का समय ग्यारह-बारह घण्टे तो होता ही है। उपन्यासकार के पास चरित्रों का वर्णन और विश्लेषण करने के लिए यथेष्ट समय होता है और वह चरित्र-चित्रण के लिए देश-काल के अनेक विस्तारों में आता-जाता रह सकता है। इसके प्रतिकूल नाटककार को इसके लिए कुछ मिनटों का ही समय मिलता है और उस अल्प समय में ही चरित्र के उद्घाटन के साथ-साथ नाटक की क्रिया को आगे बढ़ाते रहना भी अनिवार्य होता है—नाटककार कभी किसी स्थिति में भी थोड़ी देर के लिए भी रुक नहीं सकता, पर्दा उठने से लेकर गिरने तक की घटना की गति निरंतर स्पष्ट और अनवरुद्ध रहनी चाहिए।

बहुत-से लोग मानते हैं कि हमारे युग का विशिष्ट साहित्य-प्रकार उपन्यास ही है और वही युग-जीवन को प्रतिबिंबित करता अथवा कर सकता है। किन्तु उपन्यास के साथ-साथ नाटक भी अनिवार्यतः आधुनिक साहित्य का अंग और युग का प्रतिबिंब है। हमारे युग की शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति होगी जो आधुनिक नाटक में प्रतिबिम्बित न हुई हो। बल्कि इस युग का बौद्धिक, सामाजिक और संवेदनात्मक इतिहास उसके

नाटक-साहित्य के आधार पर ही लिख दिया जा सकता है।

वह कौन-सी विशेषता है जो आधुनिक नाटक को आधुनिक बनाती है—उसे पूर्ववर्ती नाटक से पृथक् करती है? स्ट्रिंडबर्ग ने इसका ठीक-ठीक उत्तर दिया था, जब उसने आधुनिक नाटक में मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर संकेत किया था। आधुनिक नाटक का दर्शक केवल घटना देखकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह घटना के कारण भी जानना चाहता है। मानसिक प्रक्रियाओं में उसे विशेष रुचि है। आधुनिक नाटककार उसकी इस जिज्ञासा को शांत करके उसके कार्य-कारण-विवेक को संतुष्ट और परितृप्त करता है।

एकांकी नाटक को आधुनिक युग की विशेषता माना जा सकता है। यों तो संस्कृत में भी रूपक और उपरूपकों के जो अनेक भेद थे उनमें कुछ ऐसे प्रकार भी थे जो एकांकी होते थे या एकांकी भी हो सकते थे, जैसे नाटिका, भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी इत्यादि—परन्तु न तो इन प्रकारों की कोई अविच्छिन्न परम्परा मिलती है और न भारतेन्दु-काल के एकांकियों में आधुनिक एकांकी के तत्त्व पाए जाते हैं। वास्तव में नाटक और उपन्यास का जैसा सम्बन्ध है, कुछ-कुछ वैसा ही कहानी और एकांकी का भी सम्बन्ध है। जिस प्रकार आधुनिक उपन्यास और कहानी को पाश्चात्य प्रभावों से प्रेरणा मिली, उसी प्रकार आधुनिक नाटक और एकांकी भी पश्चिम का ऋणी है, बल्कि कुछ अधिक ही, क्योंकि हमारे देश में साहित्यिक रंगमंच की कोई अविच्छिन्न परम्परा नहीं थी और पुनरुत्थान-काल में जो नाटक लिखे गए वे मुख्यतया पढ़ने के लिए ही और विदेशी ढांचों पर लिखे गए। नाटक सबसे पहले मंच पर दृश्याभिनय के लिए ही लिखा जाना चाहिए। और उसका प्रभाव केवल लिखे हुए शब्दों पर नहीं बल्कि अभिनेताओं के व्यक्तित्व, स्वर और अभिनय की कुशलता पर, रंगपीठ की सजावट और प्रकाश पर, और अभिनेता तथा दर्शक के साक्षात् से उत्पन्न होने वाले विशेष वातावरण पर निर्भर करना चाहिए। नाटक का लिखित रूप बहुत महत्त्व रखता है, लेकिन दृश्याभिनय का सम्पूर्ण प्रभाव देनेवाले अनेक उपकरणों में से केवल एक उपकरण है। किन्तु रंगमंच का कोई

जीवित अनुभव न होने से नाटक पढ़ने के लिए ही लिखा जाता रहा और उसके दृश्य-पहलुओं पर बल पिछले कुछ वर्षों से ही दिया जाने लगा। एकांकियों के विकास में बहुत-कुछ प्रेरणा रेडियो से मिली; लेकिन रेडियो भी क्योंकि दृश्य नहीं श्रव्य माध्यम है, इसलिए रेडियो-एकांकी भी बहुधा काव्य और नाटक के भेद की उपेक्षा करते हुए चल सके। वास्तव में आधुनिक रेडियो-रूपक रूपक होते हुए भी काव्य से पृथक् और विशिष्ट एक प्रकार है जो श्रव्य होकर भी विधान की दृष्टि से नाटक के निकट रहता है।

भारतेन्दु-काल में भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने जो एकांकी लिखे, उनमें संवाद ही प्रमुख थे और अन्य नाटक-तत्त्वों का अभाव था। इन एकांकियों की विषयवस्तु समकालीन सामाजिक पृष्ठभूमि से ली गई थी, इस दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि वे आधुनिक थे; लेकिन ऊपर आधुनिकता का जो विशेष लक्षण हम बता आए हैं, वह उनमें नहीं था। 'प्रसाद' का 'एक घूंट' भी एकांकी है। इसके सम्भाषण पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव लक्षित होता है, लेकिन रूप-विधान की दृष्टि से वह आधुनिक एकांकी के बहुत निकट है और ऐसा माना जाता है कि आधुनिक एकांकी की परम्परा वहीं से आरम्भ होती है। 'प्रसाद' के बाद सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि ने भी एकांकी लिखे, जो पठनीय और रोचक तो थे लेकिन रंगमंच को सामने रखकर नहीं लिखे गए थे। सन् १९३५ में बर्नार्ड शॉ से प्रत्यक्ष प्रभावित भुवनेश्वर के एकांकियों से आधुनिक हिन्दी एकांकी अपने विकसित रूप में सामने आया। रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सम्पूर्ण अभिनेय एकांकी लिखे, और अब माना जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी भी एक जीवित और उन्नतिशील साहित्य-प्रकार है। इधर मुख्यतया रेडियो की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जो गीतिनाट्य लिखे गए, उनमें सुमित्रानन्दन पन्त के गीतिनाट्य विशेष उल्लेखनीय हैं। वे भी एकांकी की परम्परा को पुष्ट ही करते हैं।

वसन्त

अज्ञेय

पात्र

स्त्री
वसन्त १
वसन्त २
पति
बालक

स्थान : किसी भी भारतीय बस्ती के किसी भी साधारण घर का आंगन; एक ओर पानी का कल, नीचे बर्तन पड़े हैं; दूसरी ओर दो-चार छोटे-छोटे पौधे या गमले; कुछ और हट-कर एक पेड़—नीबू या कामिनी का।

समय : वसन्त के एक दिन, सवेरे-सवेरे।

[नाटक का आरम्भ स्त्री से होता है, जो गाती हुई प्रवेश करती है। 'वसन्त १' युवा है, हंसता हुआ चेहरा, कुछ तीखा स्वर; जब वह बोलता है तो पीछे कहीं बांसुरी बज उठती है···द्रुत लय में बजते हुए उसके स्वर सहसा स्पष्ट होते हैं और उसके चुप होते ही विलीन हो जाते हैं। 'वसन्त २' अज्ञात वय का किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति है; चेहरा गम्भीर, स्वर भारी और उदासीन; बोलता है तो धीरे-धीरे, प्रत्येक शब्द को तोल-तोलकर और जैसे सुननेवाले की आत्मा में उसे बैठा देता हुआ। उसका प्रवेश इसराज के मन्द्र स्वर के साथ होता है, उसकी बात के पीछे कहीं इसराज का मन्द्र-गम्भीर घोष गूंजता रहता है।]

स्त्री : (गाती है)

फूल कांचनार के !
प्रतीक मेरे प्यार के !
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट कांपती रहे कली
पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली।
आए फिर दिन मनुहार के, दुलार के—
फूल कांचनार के !

[बांसुरी के स्वर के साथ वसन्त १ का प्रवेश। उसके आते ही मंच पर आलोक तीव्र हो आता है।]

स्त्री : अरे, कौन !

वसन्त १ : मैं, वसन्त ! (बांसुरी का स्वर)

स्त्री : कौन वसन्त ?

वसन्त १ : यह भी बताना होगा ? सुनो ! (नेपथ्य से बांसुरी का स्वर, थोड़ी देर में विलयन।) सुना ? अब पहचानती हो ?

स्त्री : अम्-अम्-म्-म्—

वसन्त १ : मैं वह हूं जो मलय-समीर के हर झोंके में आकर तुम्हारी अलकों को सहला जाता है। सरसों के फूलों में मेरा ही रंग खिलता है, आम्रमंजरी में मेरा ही आह्लाद उमगता है। मैं कोयल के स्वर से तुम्हें—तुम्हें क्यों, प्राणी-मात्र को—पुकारता हूं कि देखो, अब समय बदल गया। जिस दिन भी अपनी निरन्तर सिकुड़न छोड़कर साहसपूर्वक बढ़ने लगा! जिस सूर्य से जीवन्-मात्र और सब वनस्पतियां शक्ति पाती हैं, वह स्वयं इतने दिनों की निस्तेज क्लान्ति के बाद फिर दीप्त होने लगा! केवल बाहर ही नहीं, तुम्हारे शरीर की शिरा-शिरा में, तुम्हारे अंगों के स्फुरण में, तुम्हारे मन के उत्साह में, मेरा स्वर बोलता है! (फिर बांसुरी के स्वर, जिनके साथ-साथ वसन्त १ धीरे-धीरे जैसे निहोरे करता हुआ, गाता है।)

सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है, यौवन में प्यार !
जागो, जागो,
जागो, सखि, वसन्त आ गया !

[स्त्री भी धीरे-धीरे विभोर-सी गुनगुनाने लगती है।]

स्त्री : वसन्त आ गया—
आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया···

[स्त्री के गाने-गाने बांसुरी विलीन हो जाती है, वसन्त १ दबे दांव पीछे हटता है, लेकिन अदृश्य नहीं होता; मंच पर आलोक फीका पड़ता है; धीरे-धीरे इसराज का मन्द्र एक स्वर उठता है।]

स्त्री : (चौंककर) यह कौन ?

[वसन्त २ का प्रवेश]

वसन्त २ : मैं वसन्त !

स्त्री : वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। (गाती है :)
सुनो सखी, सुनो बन्धु !—

वसन्त २ : (हंसता है) हां, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो बन्धु !

वसन्त ज़रूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त? क्या तुमने नहीं लक्ष्य किया कि सवेरा जल्दी होने लगा है, तुम्हें काम जल्दी आरम्भ करना पड़ता है? क्या तुमने नहीं देखा कि पिछली बरसात में वनस्पतियों ने जो हरी चादर ओढ़ ली थी, शरद् ने जिसमें शेफाली की बूटियां काढ़ी थीं, जो जाड़ों में हरे रेशमी वसन से बदलकर लाल और भूरा दुशाला बन गई थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण होकर तार-तार होकर झर रही है? वह पतझड़ मैं हूं। जो सनसनाती हुई ठंडी हवा वनस्पतियों के सब आवरण उड़ाए ले जा रही है, वह मैं हूं। सवेरे-सवेरे झाड़ की मार से उड़ी हुई धूल मैं हूं। धूल का झक्कड़ मैं हूं। सुबह की धुन्ध मैं हूं। शाम के क्षितिज पर जमा हुआ धुआं मैं हूं। बाहर की नहीं, मैं भीतर की हताश हूं कि 'एक वर्ष और गुज़र गया!' मैं आतंक हूं आनेवाले ग्रीष्म की सनसनाती हुई लू के फूत्कारों से उड़ती गर्म रेत का···

स्त्री : (सिमटती हुई, घबराए स्वर से) ओह-ओह-ओह···!

[बारी-बारी से बांसुरी की द्रुत और इसराज की विलम्बितलय गूंजती और विलीन होती है। मद्धिम प्रकाश में दोनों वसन्त पास-पास खड़े हैं।]

वसन्त १ : मैं तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूं। मैं तुम्हारा भविष्य और भविष्य की आशा हूं।

वसन्त २ : मैं भी तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूं! मैं तुम्हारा अतीत हूं और अतीत का अनुभव! क्या आनेवाले कल की आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएं बीत गईं वे स्वप्न नहीं हैं!

वसन्त १ : मैं वह हूं जो तुम हो सकती थीं—

वसन्त २ : मैं वह हूं जो तुम हो!

वसन्त १ : मैं वह हूं जो तुम हो सकती हो—

वसन्त २ : (व्यंग्य से) थीं भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यों नहीं हो? (तिरस्कारपूर्वक) 'सुनो सखी, सुनो बन्धु!' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो ज़रूर सुनो—

[बारी-बारी से बांसुरी और इसराज; धीरे-धीरे बिलकुल अंधकार

हो जाता है।]

[परदा गिरता है और तत्काल उठ जाता है; दृश्य वही, पर स्त्री पेड़ के पास से हटकर कल के पास चली गई है और कपड़े समेटकर वर्तन मांजने बैठी है। मंच पर दिन का आलोक।]

स्त्री : (धीरे-धीरे जैसे स्वगत) मैं वही हूं जो तू है। मैं वह हूं जो तू हो सकता है…मैं वह हूं जो तू थी। मैं वह हूं जो तू होगी…लेकिन मैं क्या थी—क्या हूंगी—क्या हूं? शायद उसे नहीं सोचना चाहिए, नहीं तो इतने वर्षों से इसी एक प्रश्न का उत्तर देना मैं क्यों टालती आई हूं? क्या थी—फूल या मिट्टी? क्या हूंगी—मिट्टी या फूल? एक वार—एक वार सोचा था—लेकिन क्या सचमुच सोचा था? इतनी पुरानी वात लगती है कि सन्देह होता है—

[कल से पानी गिरने लगता है।]

स्त्री : ओह! (तत्परता से वरतन मांजने लगती है।)

[पति का प्रवेश]

पति : मालती!

स्त्री : (जैसे संभलती हुई) जी!

पति : (चिढ़ाता हुआ) अगर मैं बाहर ही खड़ा रहता तो सोचता कि न जाने तुमसे वातें कौन कर रहा है। यह क्या मालूम था कि आप जूठे वरतनों से वातें कर सकती हैं!

स्त्री : नहीं तो—

पति : यानी इतनी तन्मय होकर वात कर रही थीं कि तुम्हें मालूम ही नहीं? कौन था आखिर वह मन-मोहन सुध-विसरावन—कौन आया था?

स्त्री : (अनमनी-सी) वसन्त।

पति : (न समझता हुआ) कौन वसन्त?

स्त्री : यह तो मैं नहीं जानती! (धीरे-धीरे) वह कहता था, मैं मलय-समीर में रहता हूं और कोयल के स्वर से पुकारता हूं। कहता था, वह

सरसों के फूल के रंग में है। (कुछ रुककर, और भी अनमनी, खोई-सी) नहीं, वह कहता था, मैं पतझड़ हूं। और धूल का झक्कड़ और निराशा !

पति : मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गई हो। क्या करूं, सोचता तो बहुत दिनों से हूं कि कुछ छुट्टी लेकर घूम आएं, लेकिन कुछ मौका ही नहीं बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत…

स्त्री : (सहानुभूति से तिलमिलाकर) रहने दो। मुझे क्या करनी है छुट्टी। थकते तो मर्द हैं, स्त्री कभी नहीं थकती है ? काम और विश्राम—यह मर्दों की ईजाद हैं। स्त्रियां विश्राम नहीं करतीं, क्योंकि वे शायद काम भी नहीं करतीं। वे कुछ करतीं ही नहीं—वे शायद सिर्फ़ होती ही हैं। बालिका से किशोरी, कुमारी से पत्नी, बेटी से मां, एक निस्संग आत्मा से एक परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ न कुछ होती ही चलती हैं। क्योंकि वे हैं कुछ नहीं, वे केवल होते चलने का—बनने में नष्ट होते चलने का, या कि कह लो नष्ट होते रहने में बनने का, दूसरा नाम हैं। वे भविष्य हैं जोकि पीछे छूट गया, एक अतीत हैं जोकि आगे मुंह बाए बैठा है…(उद्विग्न हो उठती है।)

पति : (कुछ त्रस्त स्वर में) मालती, क्या तुम सुखी नहीं हो ? (पीड़ित-सा) लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हें कुछ दे भी तो नहीं सका। यह तो नहीं कि मैंने चाहा नहीं। लेकिन चाहना ही तो काफी नहीं है, सकत भी तो चाहिए। (सहसा नये विचार के उत्साह से) चलो, कहीं घूम आएं—या चलो, अभी दस बजे वाले सिनेमा चलेंगे—

स्त्री : उहुंक ! सिनेमा में मेरा तो दम घुटता है।

पति : तो चलो, कहीं बाग में चलेंगे। या बाहर खेतों की तरफ। आजकल नदी के कछार पर सरसों खूब फूल रही है। बीच-बीच में कहीं अलसी के नीले फूल—

[नेपथ्य में बांसुरी के स्वर]

स्त्री : (धीरे-धीरे, मानो स्वगत) वह कहता था, सरसों के फूल में मेरा ही रंग खिलता है। और-और आम के बारे में…

पति : क्या गुनगुना रही हो मालती ? तुम्हें याद है, उस बार जब…

स्त्री : कब ?

पति : बनो मत। उस बार जब गौने के बाद तुम आई ही थीं, और मैंने कहा था कि—

स्त्री : (मानो स्तब्ध-सी और न पसीजती हुई) मुझे कुछ याद नहीं है। मैं तो सोचती हूं, यह 'याद' भी मर्दों की ही ईजाद है। उनके लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है !

[बालक का पुकारते हुए प्रवेश]

बालक : मां-मां !

पति : यह लो आ गया ऊधमी ? अच्छा तो तुम जल्दी से उठो, मैं अभी-अभी तैयार हो जाता हूं—हां।

बालक : मां-मां…

स्त्री : क्या है बेटा ?

बालक : मां सब लड़के कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतंग उड़ाने का नियम है।

स्त्री : हुं, नियम है ? पतंग नहीं उड़ाया करते अच्छे लड़के।

बालक : क्यों मां ? मुझे तो पतंग बहुत अच्छी लगती है…

स्त्री : न। उड़ जानेवाली चीज़ों को प्यार नहीं करना चाहिए। छोड़कर चली जाती हैं तो दुःख होता है।

बालक : वह उड़ थोड़े ही जाएगी ? मैं फिर उतार लूंगा—मेरे पास ही तो रहेगी।

स्त्री : मैं पतंग होती तो उड़ जाती, दूर-दूर ! फिर कभी वापस न आती नीचे।

बालक : (आहत) हमें छोड़ जातीं मां ?

स्त्री : तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतंग में मस्त रहते, तुम्हें ध्यान भी न आता।

बालक : नहीं मां, मुझे तो तुम बहुत अच्छी लगती हो। मुझे नहीं चाहिए पतंग-वतंग, मैं तुम्हारे पास बैठूंगा—

[आकर स्त्री के गले लिपटता है।]

स्त्री : अरे, छोड़ मुझे—दंगा न कर! जा, पिताजी के साथ जाकर बगीचा देख आ।

बालक : वहां क्या है?

स्त्री : (जैसे याद करती हुई) है क्या? वहां सुन्दर फूल हंसते हैं—वहां कोयल कूकती है—वहीं तो वसन्त है।

बालक : (मान-भरे स्वर में) हमें नहीं चाहिए वहां का वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, मां—तुम हंसतीं क्यों नहीं? अरे, तुम तो उदास हो गईं···

स्त्री : (सोचती हुई) यह तो उन दोनों ने नहीं कहा था···वह कहता था, मैं आशा हूं, वसन्त मैं हूं। वह कहता था, मैं अनुभव हूं, वसन्त मैं हूं। मुझे तो किसीने नहीं कहा कि वसन्त तुम हो—फूलों का खिलना भी और पतझड़ भी—समीर भी और धूल का झक्कड़ भी···

बालक : किसने कहा था मां?

स्त्री : किसीने नहीं बेटा, मेरी चेतना ने। तू तो केवल पतंग का वसन्त जानता है, मगर मुझमें बहुत-से वसन्त हैं—कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हंसते, कुछ उदास।

बालक : उन सबमें सबसे अच्छा कौन-सा है मां?

स्त्री : (सहसा स्वस्थ होकर) सबसे अच्छा वसन्त तू है बेटा! तू हंसता रह, बस फूल-फल···

[नेपथ्य में बांसुरी का स्वर धीरे-धीरे स्पष्ट हो आता है।]

बालक : वाह, मैं कोई पौधा हूं—

स्त्री : हां, यह तू क्या जाने! तू मेरी सारी आशाओं का, सारे अनुभवों का पौधा है, मेरा युगों-युगों का वसन्त!

[बांसुरी बिलकुल स्पष्ट। आलोक तीव्र होने लगता है। उसके साथ

नेपथ्य में गान उठता है ।]

सखि, वसन्त आ गया !

जागो, जागो ?

जागो सखि, वसन्त आ गया, जागो !

[पर्दा गिरता है ।]

महाभारत की एक सांझ

भारतभूषण अग्रवाल

पात्र

धृतराष्ट्र
संजय
युधिष्ठिर
भीम
दुर्योधन

स्थान : कुरुक्षेत्र के निकट द्वैतवन के जलाशय का किनारा
समय : सांझ

(यह नाटक यहां श्रव्य रूप में ही प्रस्तुत किया गया है; जैसा रेडियो द्वारा प्रसार के लिए होता है; पर इसे सहज ही मंच पर दृश्याभिनय के अनुकूल बनाया जा सकता है।)

[सारंगी पर आलाप उठता है।]

धृतराष्ट्र : (ठण्डी सांस लेकर) कह नहीं सकता संजय ! किसके पापों का यह परिणाम है, किसकी भूल थी जिसका यह भीषण विषफल हमें मिला। ओह ! क्या पुत्र-स्नेह अपराध है, पाप है ? क्या मैंने कभी भी··· कभी भी···

संजय : शान्त हों महाराज ! जो हो चुका, उसपर शोक करना व्यर्थ है।

धृतराष्ट्र : (सांस लेकर) फिर क्या हुआ संजय ?

संजय : आत्म-रक्षा का और कोई उपाय न देखकर महाबली सुयोधन द्वैतवन के सरोवर में घुस गए, और उसके जल-स्तम्भ में छिपकर बैठ रहे। पर न जाने कैसे पाण्डवों को इसकी सूचना मिल गई और वे तत्काल रथ पर चढ़कर वहां पहुंच गए ··

[रथ की गड़गड़ाहट]

भीम : लीजिए महाराज ! यही है द्वैतवन का सरोवर। वे अहेरी कहते थे कि उन्होंने दुर्योधन को इसी जल में छिपते हुए देखा।

युधिष्ठिर : आओ, हम लोग उसे बाहर निकालने की चेष्टा करें।

[जल की कल-कल ध्वनि]

युधिष्ठिर : (पुकारकर) ओ पापी ! अरे ओ कपटी, दुरात्मा दुर्योधन ! क्या स्त्रियों की भांति यहां जल में छिपकर बैठा है ! बाहर निकल आ। देख, तेरा काल तुझे ललकार रहा है !

भीम : कोई उत्तर नहीं। (ज़ोर से) दुर्योधन ! दुर्योधन ! ! अरे, अपने सारे सहयोगियों की हत्या का कलंक अपने माथे पर लगाकर तू कायरों की भांति अपने प्राण बचाता फिरता है ! तुझे लज्जा नहीं आती ?

युधिष्ठिर : लज्जा। उस पापी को लज्जा!!—भीमसेन! ऐसी अनहोनी बात की तुमने कल्पना भी कैसी की जो अपने सगे-सम्बन्धियों को गाजर-मूली की भांति कटवा सकता है, जो अपने भाइयों को जीवित जलवा देने में भी नहीं हिचकिचाता, जो अपनी भाभी को भरी सभा में अपमानित कराने में आनन्द ले सकता है, उसका लज्जा से क्या परिचय! (सव्यंग्य हंसी)

दुर्योधन : (दूर जल में से) हंस लो, हंस लो दुष्टो! जितना जी चाहे, हंस लो, पर यह न भूलना कि मैं अभी जीवित हूं, मेरी भुजाओं का बल अभी नष्ट नहीं हुआ है!

युधिष्ठिर : (ज़ोर से) अरे नीच! अब भी तेरा गर्व चूर नहीं हुआ! यदि बल है तो फिर आ न बाहर और हमको पराजित करके राज्य प्राप्त कर! वहां बैठा-बैठा क्या वीरता बघारता है! तू क्या समझता है, हम तेरी थोथी बातों से डर जाएंगे?

दुर्योधन : अपने स्वार्थ के लिए अपने गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों का निर्भयता से वध करनेवाले महात्मा पाण्डवों के रक्त की प्यास अभी बुझी नहीं है, यह मैं जानता हूं। पर युधिष्ठिर! सुयोधन कायर नहीं है, वह प्राण रहते तुम्हारी सत्ता स्वीकार नहीं कर सकता!

भीम : तो फिर आ न बाहर और दिखा अपना पराक्रम! जिस कालाग्नि को तूने वर्षों घृत देकर उभाड़ा है, उसकी लपटों में तेरे साथी तो स्वाहा हो गए—उसके घेरे से अब तू क्यों बचना चाहता है? अच्छी तरह समझ ले, यह तेरी आहुति लिये बिना शांत न होगी।

दुर्योधन : जानता हूं युधिष्ठिर! भली भांति जानता हूं। किन्तु सोच लो, मैं थककर चूर हो गया हूं, मेरी सारी सेना तितर-बितर हो गई है, मेरा कवच फट गया है, मेरे शस्त्रास्त्र चुक गए हैं। मुझे समय दो युधिष्ठिर! क्या भूल गए, मैंने तुम्हें तेरह वर्ष का समय दिया था?

युधिष्ठिर : (हंसकर) तेरह वर्ष का समय दिया था! दुर्योधन! तुमने तो हमें वनवास दिया था, यह सोचकर कि तेरह वर्ष वन में रहकर

हमारा उत्साह ठण्डा पड़ जाएगा, हमारी शक्ति क्षीण हो जाएगी, हमारे सहायक बिखर जाएंगे और तुम अनायास हमपर विजय पा सकोगे। इतनी आत्म-प्रवंचना न करो !

दुर्योधन : युधिष्ठिर ! तुम तो धर्मराज कहलाते हो। तुम्हारा दम्भ है कि तुम अधर्म नहीं करते। फिर तुम्हारे रहते, तुम्हारी आंखों के आगे ऐसा अधर्म हो, सोचो तो !

भीम : (हंसी) अच्छा, तो अब तुझे धर्म का स्मरण हुआ। सच है, कायर और पराजित ही अन्त में धर्म की शरण लेते हैं।

युधिष्ठिर : अरे पामर ! तेरा धर्म तब कहां चला गया था, जब एक निहत्थे बालक को सात-सात महारथियों ने मिलकर मारा था, जब आधा राज्य तो दूर, सूई की नोक के बराबर भी भूमि देना तुझे अनुचित लगा था। अपने अधर्म से इस पुण्यलोक भारत-भूमि में द्वेष की ज्वाला धधका-कर अब तू धर्म की दुहाई देता है। धिक्कार है तेरे ज्ञान को ! धिक्कार है तेरी वीरता को !

दुर्योधन : एक निहत्थे, थके हुए व्यक्ति को घेरकर वीरता का उपदेश देना सहज है युधिष्ठिर ! मुझे खेद है, मैं इसके लिए तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर सकता। पर मैं सच कहता हूं तुमसे, इस नर-हत्याकांड से मुझे विरक्ति हो गई है। इस रक्त-रंजित सिंहासन पर बैठकर राज्य करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। तुम निश्चिंत मन से जाओ और राज्य भोगो। सुयोधन तो वन में जाकर भगवद्भक्ति में दिन बिताएगा।

भीम : व्यर्थ है दुर्योधन ! तेरी यह सारी कूटनीति व्यर्थ है ! अपने पापों के परिणामों से अब तू किसी भी प्रकार नहीं बच सकता। बाहर निकलकर युद्ध कर, बस यही एक मार्ग है !

दुर्योधन : अप्रस्तुत को मारने से यदि तुम्हें सन्तोष मिलता है, तो लो मैं बाहर आता हूं। (जल से निकलकर पास आने तक की आवाजें) पर मैं पूछता हूं युधिष्ठिर ! मेरे प्राणों का नाश कर तुम्हें क्या मिल जाएगा ?

युधिष्ठिर : अरे पापी ! यदि प्राणों का इतना मोह था, तो फिर यह

महाभारत क्यों मचाया ? न्याय को ठोकर मारकर अन्याय का पथ क्यों ग्रहण किया ?

दुर्योधन : युधिष्ठिर ! मैंने जो कुछ किया, अपनी रक्षा के लिए ! मैं जीना चाहता था, शान्ति और मेल से रहना चाहता था। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे रहते मेरी यह कामना, यह सामान्य-सी इच्छा भी पूरी न हो सकेगी।

भीम : पाखण्डी ! तुझे झूठ बोलते लज्जा नहीं आती ?

दुर्योधन : ले लो राक्षसो ! यदि तुम्हारी हिंसा इसीसे तृप्त होती है तो ले लो, मेरे प्राण भी ले लो ! जहां मैं जीवन-भर प्रयास करके भी अपनी एक भी घड़ी शान्ति से न बिता सका, जब मैं अपनी एक भी कामना को फलते न देख सका, तो अब इन प्राणों को रखकर भी क्या करूंगा ! लो, उठाओ शस्त्र और उड़ा दो मेरा शीश ! —अब देखते क्या हो ! मैं निहत्था तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूं ! ऐसा सुअवसर कब मिलेगा, मेरे जीवन-शत्रुओ !

युधिष्ठिर : पहले वीरता का दम्भ और अंत में करुणा की भीख ! कायरों का यही नियम है। परन्तु दुर्योधन ! कान खोलकर सुन लो। हम तुम्हें दया करके छोड़ेंगे भी नहीं, और तुम्हारी भांति अधर्म से हत्या कर वधिक भी न कहलाएंगे। हम तुम्हें कवच और अस्त्र देंगे। तुम जिस अस्त्र से लड़ना चाहो बता दो। हममें से केवल एक व्यक्ति ही तुमसे लड़ेगा। और यदि तुम जीत गए तो सारा राज्य तुम्हारा ! कहो, यह तो अधर्म नहीं है ? स्वीकार है ?

भीम : इस दुराचारी के साथ ऐसा व्यवहार बिलकुल अनावश्यक है।

दुर्योधन : मैं तो कह चुका हूं युधिष्ठिर ! मुझे विरक्ति हो गई है। मेरी समझ में आ गया है कि अब प्राणों की तृप्ति की चेष्टा व्यर्थ है। विफलता के इस मरुस्थल में अब एक बूंद आवेगी भी तो सूखकर खो जाएगी। यदि तुम्हें इसमें संतोष हो कि तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा मेरी मृत देह पर ही अपना जय-स्तम्भ उठाए तो फिर यही सही ! (सांस लेकर)

चलो, यह भी एक प्रकार से अच्छा ही होगा। जिन्होंने मेरे लिए अपने प्राणों की बलि दी, उन्हें मुंह तो दिखा सकूंगा। (रुककर) अच्छी बात है युधिष्ठिर ? मुझे एक गदा दे दो, फिर देखो मेरा पौरुष !

[लघु विराम]

संजय : इस प्रकार महाराज ! पाण्डवों ने विरक्त सुयोधन को युद्ध के लिए विवश किया। पाण्डवों की ओर से भीम गदा लेकर रण में उतरे। दोनों वीरों में घमासान युद्ध होने लगा। सुयोधन का पराक्रम सबको चकित कर देता था। ऐसा लगता था मानो विजय-श्री अन्त में उन्हींका वरण करेगी। पर तभी श्रीकृष्ण के संकेत पर भीम ने सुयोधन की जंघा में गदा का भीषण प्रहार किया। कुरुराज आहत होकर चीत्कार करते हुए गिर पड़े।

धृतराष्ट्र : हाय पुत्र ! इन हत्यारों ने अधर्म से तुम्हें परास्त किया। संजय ! मेरे इतने उत्कट स्नेह का ऐसा अन्त !! ओह ! मैं नहीं सह सकता। मैं नहीं सह सकता···

संजय : धैर्य, महाराज, धैर्य ! कुरुकुल के इस डगमगाते पोत के अब आप ही कर्णधार हैं।

धृतराष्ट्र : संजय ! बहलाने की चेष्टा न करो। (रुककर) पर ठीक कहा तुमने ! कुरुकुल का कर्णधार ही अन्धा है, उसे दिखाई नहीं देता !

संजय : महाराज ! ठीक यही बात सुयोधन ने कही थी।

धृतराष्ट्र : क्या ? क्या कहा था सुयोधन ने ? कब ?

संजय : जब सुयोधन आहत होकर निस्सहाय भूमि पर गिर पड़े, तो पाण्डव जय-ध्वनि करते और हर्ष मानते अपने शिविर को लौट गए। संध्या होने पर पहले अश्वत्थामा आए और कुरुराज की यह दशा देखकर बदला लेने का प्रण करते हुए चले गए। फिर युधिष्ठिर आए। सुयोधन के पास आकर वे झुके और शान्त स्वर में बोले :

[दुर्योधन की कराह, जो बीच-बीच में निरन्तर चलती रहती है।]

युधिष्ठिर : दुर्योधन ! दुर्योधन !! आंखें खोलो भाई !

दुर्योधन : (कराहते हुए) कौन ? कौन ? युधिष्ठिर ! युधिष्ठिर ! तुम ! तुम आए हो ? क्यों आए हो ? अब क्या चाहते हो ? तुम राज्य चाहते थे वह मैंने दे दिया। मेरे प्राण चाहते थे, वे भी मैंने दे दिए। अब क्या लेने आए हो मेरे पास ? अब मेरे पास ऐसा कौन-सा धन है जिसके प्रति तुम्हें ईर्ष्या हो ? जाओ, जाओ, दूर हो मेरी आंखों से। जीवन में तुमने मुझे चैन नहीं लेने दिया, अब कम से कम मुझे शान्ति से मर तो लेने दो युधिष्ठिर ! जाओ ! चले जाओ !!

युधिष्ठिर : तुमने भूल समझा दुर्योधन ? मैं कुछ लेने नहीं आया ! मैं तो देखने आया था कि···

दुर्योधन : कि अन्तिम समय में मैं किस तरह निस्सहाय, निर्बल पशु की भांति तड़प-तड़पकर अपना दम तोड़ता हूं ? मेरी मृत्यु का पर्व मनाने आए हो ! मेरी आहों का आलाप सुनने आए हो। अरे निर्दयी ! तुम्हें किसने धर्मराज की संज्ञा दी ! जो सुख से मरने भी नहीं देता, वही धर्म का ढोल पीटे, कैसा अन्याय है !

युधिष्ठिर : अर्थ का अनर्थ न करो दुर्योधन ! मैं तो तुम्हें शान्ति देने आया था। मैंने सोचा, हो सकता है तुम्हें पश्चात्ताप हो रहा हो ! यदि ऐसा हो, तो तुम्हारी व्यथा हल्की कर सकूं, इसी उद्देश्य में मैं आया था।

दुर्योधन : हाय रे मिथ्याभिमानी ! अब भी यह दया का ढोंग नहीं छोड़ा ? पर युधिष्ठिर ! तनिक अपनी ओर तो देखो ! पश्चात्ताप तो तुम्हें होना चाहिए ! मैं क्यों पश्चात्ताप करूंगा ? मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है ? मैंने अपने मन के भावों को गुप्त नहीं रखा, मैंने षड्यंत्र नहीं किया, मैंने गुरुजनों का वध नहीं किया !

युधिष्ठिर : यह तुम क्या कह रहे हो दुर्योधन !

दुर्योधन : (किटकिटाकर) दुर्योधन नहीं, सुयोधन कहो धर्मराज ! सुयोधन ! क्या अब भी तुम्हारी छाती ठंडी नहीं हुई ? क्या मुझे मारकर भी तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ जो मेरी अन्तिम घड़ी में मेरे मुंह पर मेरे नाम की खिल्ली उड़ा रहे हो ? निर्दयी ! क्या ईर्ष्या में अपनी मानवता भी

भस्म कर दी ?

युधिष्ठिर : क्षमा करो भाई ! अब तुम्हें और अधिक कष्ट नहीं पहुंचाना चाहता, पर मेरे कहने न कहने से क्या, आनेवाली पीढ़ियां तुम्हें दुर्योधन के नाम से ही सम्बोधित करेंगी, तुम्हारे कृत्यों का साक्षी इतिहास पुकार-पुकारकर ··

दुर्योधन : मुझे दुर्योधन कहेगा, यही न ? जानता हूं युधिष्ठिर ! मैं जानता हूं। मुझे मारकर ही तुम चुप नहीं बैठोगे। तुम विजेता हो, अपने गुरुजनों और सगे-सम्बन्धियों के शोणित की गंगा में नहाकर तुमने राजमुकुट धारण किया है। तुम अपनी देख-रेख में इतिहास लिखवाओगे और उसका पूरा-पूरा लाभ उठाने से क्यों चूकोगे ! सुयोधन को सदा के लिए दुर्योधन बनाकर छोड़ोगे। (कराहकर) उसकी देह को ही नहीं, उसका नाम तक मिटा दोगे। यह मैं अच्छी तरह जानता हूं। (रुककर) मेरे मरने पर तुम जो चाहो करना, मैं तुम्हारा हाथ पकड़ने नहीं आऊंगा। पर इस समय, जब तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु मर रहा है, उसे इतना न्याय दो कि उसका मिथ्या अपमान न करो।

युधिष्ठिर : युधिष्ठिर ने सदा ही न्याय दिया है सुयोधन ! न्याय के लिए वह बड़े-बड़े दुःख उठाने से भी नहीं चूका है। सगे-संबंधियों के तड़प-तड़पकर प्राण त्यागने का यह भीषण दृश्य, अबलाओं-अनाथों का यह करुण चीत्कार किसी भी हृदय को दहलाने के लिए पर्याप्त था। पर सुयोधन ! मैं इन संहार के दृश्यों को भी शांत भाव से सह गया, क्योंकि न्याय के पथ पर जो मिले, सब स्वीकार है !

दुर्योधन : यह दम्भ है युधिष्ठिर ? यह मिथ्या अहंकार है। मैं तुम्हारी यह आत्म-प्रशंसा नहीं सुन सकता, इसे तुम अपने भक्तों के ही लिए रहने दो ! तुम विजय की डींग मार सकते हो, पर न्याय-धर्म की दुहाई तुम मत दो ! स्वार्थ को न्याय का रूप देकर धर्मराज की उपाधि धारण करने में तुम्हें संतोष मिलता है तो मिले, मेरे लिए वह आत्म-प्रवंचना है। मैं उससे घृणा करता हूं।

युधिष्ठिर : स्वार्थ ! दुर्योधन, स्वार्थ ! !

दुर्योधन : और नहीं तो क्या ? जिस राज्य पर तुम्हारा रत्ती-भर अधिकार नहीं था, उसको पाने के लिए तुमने युद्ध ठाना, यह स्वार्थ का तांडव नृत्य नहीं तो और क्या है ? भला किस न्याय से तुम राज्याधिकार की मांग करते थे ?

युधिष्ठिर : सुयोधन, मन को टटोलकर देखो। क्या वह तुम्हारे कथन का समर्थक है ! क्या तुम नहीं जानते कि पिता के राज्य पर पुत्र का अधिकार सर्वसम्मत है ? फिर महाराज पाण्डु का राज्य मेरा हुआ या नहीं ?

दुर्योधन : बस, तुम्हारे पास एक यही तर्क है न ! परंतु युधिष्ठिर, क्या तुमने कभी भी यह सोचा कि जिस राज्य का तुम अधिकार चाहते थे वह तुम्हारे पिता के पास कैसे आया ? क्या जन्माधिकार से ? नहीं। तुम्हारे पिता को राज्य की देखभाल का कार्य केवल इसलिए मिला कि मेरे पिता अन्धे थे। राज्य-संचालन में उन्हें असुविधा होती। अन्यथा उस-पर तुम्हारे पिता का कोई अधिकार न था, वह मेरे पिता का था।

युधिष्ठिर : यह तो ठीक है। पर एक बार चाहे किसी भी कारण से हो, जब मेरे पिता को राज्य मिल गया, तब उनके पश्चात् उसपर मेरा अधिकार हुआ या नहीं ? क्या राज-नियम यह नहीं कहता ?

दुर्योधन : राज-नियम की चिंता कब की तुमने ? अन्यथा इस बात के समझने में क्या कठिनाई थी कि तुम्हारे पिता के उपरांत राज्य पर मूल अधिकार मेरे पिता का ही था। वह जिसे चाहते, व्यवस्था के लिए सौंप सकते थे।

युधिष्ठिर : यह केवल तुम्हारा निजी मत है। आज तक किसीने भी इस प्रकार का कोई संदेह प्रकट नहीं किया। पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, कृपाचार्य अथवा स्वयं महाराज धृतराष्ट्र ने भी कभी ऐसी कोई बात नहीं कही !

दुर्योधन : यही तो मुझे दुःख है युधिष्ठिर, कि तथ्य तक पहुंचने की किसीने भी चेष्टा नहीं की। एक अन्याय की प्रतिष्ठा के लिए इतना ध्वंस

किया गया, और सब अंधों की भांति उसे स्वीकार करते गए। सबने मेरा हठ ही देखा, मेरे पक्ष का न्याय किसीने नहीं देखा! और जानते हो, इसका क्या कारण था?

युधिष्ठिर : क्या?

दुर्योधन : सब तुम्हारे गुणों से प्रभावित थे, सब तुम्हारी वीरता से डरते थे। कायरों की भांति, रक्तपात से बचने के प्रयत्न में वे न्याय और सत्य का बलिदान कर बैठे। वे यह नहीं समझ पाए कि भय जिसका आधार हो, वह शांति टिकाऊ नहीं हो सकती।

युधिष्ठिर : गुरुजनों पर तुम व्यर्थ ही कायरता का आरोप कर रहे हो। यदि मेरे पक्ष में न्याय न होता तो कोई भी मुझको राज्य देने की मांग क्यों करता!

दुर्योधन : तभी तो कहता हूं युधिष्ठिर, कि स्वार्थ ने तुम्हें अन्धा बना दिया, अन्यथा इतनी छोटी-सी बात क्या तुम्हें दिखाई न पड़ जाती कि जितने धार्मिक और न्यायी व्यक्ति थे, सबने इस युद्ध में मेरा साथ दिया है। यदि न्याय तुम्हारी ओर था तो फिर भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा—सब मेरी ओर से क्यों लड़े? क्या वे जान-बूझकर अन्याय का साथ दे रहे थे? यहां तक कि कृष्ण जैसे तुम्हारे परम मित्र ने भी मेरी सहायता के लिए अपनी सेना दी। वे चतुर थे, दोनों पक्षों से मैत्री रखना हीं उन्होंने अच्छा समझा। ऐसा क्यों हुआ? बोलो। इसीलिए न कि न्याय वास्तव में मेरी ओर था?

युधिष्ठिर : सुयोधन! मैं तुम्हें सान्त्वना देने आया था, विवाद करने नहीं। मैं तो तुम्हारी पीड़ा बंटा लेने आया था। क्योंकि तुम चाहे जो समझो, मेरी इस बात का तुम विश्वास करो कि मैं इस रक्तपात के लिए तैयार न था, यह मेरी कदापि इच्छा नहीं थी।

दुर्योधन : मैं इसका कैसे विश्वास करूं, क्या तुम्हारे कह देने से ही? पर तुम्हारे वचनों से भी सशक्त स्वर है तुम्हारे कार्यों का, तुम्हारे जीवन की गतिविधि का, और वह पुकार-पुकारकर कह रही है कि युधिष्ठिर

शोणित-तर्पण चाहता था, युधिष्ठिर खून की होली खेलने के लिए ही सारे अवसर जुटा रहा था। भविष्य को भी तुम चाहो तो बहका सकते हो युधिष्ठिर ! पर सुयोधन को नहीं बहका सकते। क्योंकि उसने अपने बचपन से लेकर अब तक की एक-एक घड़ी तुम्हारी ईर्ष्या के रथ की गड़गड़ाहट सुनते हुए बिताई है, तुम्हारी तैयारियों ने उसे एक रात भी चैन से नहीं सोने दिया।

युधिष्ठिर : सुयोधन ! मुझे लगता है, तुम सुध-बुध खो बैठे हो, तुम प्रलाप कर रहे हो। भला ज्ञान में भी कोई ऐसी असम्भाव्य बातें कहता है ! जो पाण्डव तुमसे तिरस्कृत होकर घर-घर भीख मांगते फिरे, बन-जंगलों की धूल छानते फिरे, उनके संबंध में भला कौन ज्ञानी व्यक्ति तुम्हारे इस कथन का विश्वास करेगा !

दुर्योधन : मैं जानता हूं युधिष्ठिर ! कोई विश्वास नहीं करेगा। और करना चाहे तो तुम उसे विश्वास न करने दोगे। पर इससे क्या, सत्य को दबाकर उसे मिथ्या नहीं किया जा सकता। बचपन से जब हम लोगों ने एक साथ शिक्षा पाई, तब से आज तक के सारे चित्र मेरी दृष्टि में हरे हैं। पुरोचन को कपट से मारकर तुम पंचाल गए और वहां द्रुपद को अपनी ओर मिलाया। तभी तो तुम्हारा बल बढ़ता देखकर पिताजी ने तुम्हें आधा राज्य दिया।

युधिष्ठिर : मैं तो यही जानता हूं कि आधे राज्य पर मेरा अधिकार था।

दुर्योधन : सत्य को ढकने का प्रयत्न न करो युधिष्ठिर ! उसे निष्पक्ष होकर जांचो। मेरे पास प्रमाणों की कमी नहीं है। आधा राज्य पाकर भी तुमने चैन न लिया, तुमने अर्जुन को चारों ओर दिग्विजय के लिए भेजा। राजसूय यज्ञ के बहाने तुमने जरासन्ध और शिशुपाल को समाप्त किया। यहां तक कि जुए में खेल-खेल में भी तुम अपनी ईर्ष्या नहीं भूले, और तुमने चट से अपना राज्य दांव पर लगा दिया कि यदि तुम जीते तो तुम्हें मेरा राज्य अनायास ही मिल जाए। वनवास उसी महत्त्वाकांक्षा का परिणाम

था, मेरा उसमें कोई हाथ न था।

युधिष्ठिर : तुमने जिस तरह भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया…

दुर्योधन : मेरा अपमान भी द्रौपदी ने भरी सभा में ही किया था। तब तुम्हारी यह न्याय-भावना क्या सो रही थी? फिर द्रौपदी को दांव पर लगाकर क्या तुमने उसका सम्मान करने की चेष्टा की थी? जिस समय द्रौपदी सभा में आई, उस समय वह द्रौपदी नहीं थी, वह जुए में जीती हुई दासी थी।

युधिष्ठिर : यह तुम कैसी विचित्र बात कर रहे हो?

दुर्योधन : सत्य को विचित्र मानकर उठा नहीं सकते युधिष्ठिर! अपने ही कृत्य से वनवास पाकर भी उसका दोष मेरे ही माथे मढ़ा गया, और फिर उस वनवास का एक-एक क्षण युद्ध की तैयारी में लगाया गया। अर्जुन ने तपस्या द्वारा नये-नये शस्त्र प्राप्त किए; विराटराज से मैत्री कर नये सम्बन्ध बनाए गए, और अवधि पूर्ण होते ही अभिमन्यु के विवाह के बहाने सारे राजाओं को निमन्त्रण भेजकर एकत्र किया गया। युधिष्ठिर! क्या इस कटु सत्य को तुम मिटा सकते हो?

युधिष्ठिर : यदि जो कुछ तुम कह रहे हो वह सत्य है, तो सुयोधन तुम मेरा विश्वास करो कि तुमने प्रत्येक घटना के उलटे अर्थ लगाए हैं। जो नहीं है उसे तुमने कल्पना के द्वारा देखा है। यह सब मिथ्या है।

दुर्योधन : किन्तु यही बात मैं तुम्हारे लिए कह सकता हूं युधिष्ठिर! क्योंकि अन्तर्यामी जानते हैं कि मैंने कोई बुरा आचरण नहीं करना चाहा। मैंने एकमात्र अपनी रक्षा की। जब तक तुमने आक्रमण नहीं किया, मैं चुप रहा। जब मैंने देखा कि युद्ध अनिवार्य है, तो फिर मुझे विवश होकर वीरोचित कर्तव्य करना पड़ा।

युधिष्ठिर : अभिमन्यु-वध भी क्या वीरोचित था?

दुर्योधन : एक-एक बात पर कहां तक विचार करोगे युधिष्ठिर! जब भीष्म, द्रोण और कर्ण का वध वीरोचित हो सकता है, तो फिर अभिमन्यु-वध में ऐसी क्या विशेषता थी? और आज भीमसेन ने मुझे

जिस प्रकार पराजित किया है वही क्या वीरोचित कहलाएगा ? पर युधिष्ठिर ! मेरे पास अब इतना समय नहीं है कि इन सबकी विवेचना करूं। मैं तो सबकी सार बात जानता हूं कि तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा ही इस नर-संहार का, इस भीषण रक्तपात का मूल कारण है। मैं तो एक निस्सहाय, विवश व्यक्ति की भांति केवल जूझ पड़ा हूं। तुम्हारे चक्रान्त में मेरे लिए यही पुरस्कार निर्धारित किया गया था।

युधिष्ठिर : सुयोधन ! तुम्हें भ्रान्ति हो गई है, तुम सत्य और मिथ्या में भेद करने में असमर्थ हो। तुम्हारे मस्तिष्क की यह दशा सचमुच दयनीय है।

दुर्योधन : बड़े निष्ठुर हो युधिष्ठिर ! मरणोन्मुख भाई से दुराव करते तुम्हारा जी नहीं पसीजता ! कुछ क्षणों में ही मैं इस लोक की सीमाओं के परे पहुंच जाऊंगा। मेरे सम्मुख यदि तुम सत्य स्वीकार कर भी लोगे तो तुम्हारे राजत्व को कोई हानि न पहुंचेगी। (कराहता है) पर नहीं, मैं भूल गया। तुम तो अपने शत्रु की इस विकल मृत्यु पर प्रसन्न हो रहे होगे। आज वह हुआ जो तुम चाहते थे, और जो मैं नहीं चाहता था। मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन का एक-एक पल महत्त्वाकांक्षा की टकराहट से बचने में लगाया। परन्तु तुम्हारे सम्मुख मेरे सारे प्रयत्न निष्फल हुए। वह देखो, अब अंधेरा बढ़ा आ रहा है। सांझ हो रही है, मेरे जीवन की अन्तिम सांझ। (पृष्ठभूमि में सारंगी पर करुण आलाप, जो बढ़ता है।) और उधर वे मेघ घिरे आ रहे हैं, द्रौपदी के बिखरे केशों की भांति। वे मुझे निगल लेंगे युधिष्ठिर ! जाओ, जाओ, मुझे मरने दो। तुम अपनी महत्त्वाकांक्षा को फलते-फूलते देखो ! जाओ, गुरुजनों और बन्धु-बान्धवों के रक्त से अभिषेक कर राजसिंहासन पर विराजो ! मैं तुम्हारे चरणों से रौंदे हुए कांटे की भांति तुम्हारे मार्ग से हटे जाता हूं।

युधिष्ठिर : इतने उत्तेजित न हो सुयोधन ! वीरों की भांति धैर्य रखो। शांत होओ।

दुर्योधन : घबराओ नहीं युधिष्ठिर ! मेरी शान्ति के लिए तुम जो

उपाय कर चुके हो, वह अचूक है। दो क्षण और फिर मैं सदा को शांत हो जाऊंगा। पर अन्तिम सांस निकलने से पहले युधिष्ठिर, एक बात कहे जाता हूं। तुम पश्चात्ताप की बात पूछने आए थे न ? मेरे मन में कोई पश्चात्ताप नहीं है। मैंने कोई भूल नहीं की। मैंने भय से तुम्हारी शरण नहीं मांगी। अन्त तक तुमसे टक्कर ली और अब वीर-गति पाकर स्वर्ग को जाता हूं। समझे युधिष्ठिर ! मुझे कोई ग्लानि नहीं है, कोई पश्चात्ताप नहीं है। केवल एक...... केवल एक दुःख मेरे साथ जाएगा।

युधिष्ठिर : क्या ?

दुर्योधन : यही......यही कि मेरे पिता अन्धे क्यों हुए। नहीं तो, नहीं तो...

[करुण आलाप उठकर धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।]

भोर का तारा

जगदीशचन्द्र माथुर

पात्र

माधव : गुप्त साम्राज्य का कर्मचारी
शेखर का मित्र

शेखर : उज्जयिनी का कवि

छाया : शेखर की प्रेयसी, अनन्तर पत्नी

स्थान : गुप्त साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी का एक गृह

समय : पांचवीं शती, सन् ४५५ के आसपास

(१)

[कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएं अस्तव्यस्त। बायीं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उसपर एक चौकी भी रखी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या कागज) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी रखी है जिस पर कुछ पात्र रखे हैं।

पीछे की ओर एक खिड़की है। बायां दरवाज़ा अन्दर जाने के लिए है और दायां बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताक हैं, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएं रखी हैं।

शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी-कभी तख्त पर बैठकर कुछ लिखता जाता है। जान पड़ता है, वह कविता बनाने में संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है उसे लिखता भी जाता है।]

शेखर : 'अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार
खींचते नीले पट का छोर…।'
[दुबारा कहता है, फिर लिखता है।]
'टँका जिसमें जाने किस ओर
स्वर्ण कण…स्वर्ण कण…'

[पूरा करने के प्रयास में तल्लीन है, इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सांसारिकता का भाव और ज़ानकारी उसके चेहरे से प्रकट हैं। द्वार के पास खड़ा होकर थोड़ी देर तक वह कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद :]

माधव : शेखर !

शेखर : (अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिखकर) स्वर्ण कण प्रिय को रहा निहार।

माधव : शे···खर !

शेखर : (चौंककर) कौन ?···ओह माधव ! (उठकर माधवकी ओर बढ़ता है।)

माधव : क्या कर रहे हो शेखर ?

शेखर : यहां आओ माधव, यहां। (उसके कन्धों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहां बैठो। (स्वयं खड़ा है) माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?

माधव : (मुस्कराते हुए) हां ? क्यों ?

शेखर : (बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो क्यों···नहीं जानते ? (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनीबाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर, जिसमें सोने के तारे टंके थे। ज्यों ही निकट पहुंची, त्यों ही लाज की आंधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। (रुककर) फिर क्या हुआ···

माधव : (कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया ?

शेखर : नहीं। उसने अपनी अंगुलियां पसारकर उसके नीले पट का छोर खींच लिया।—जानते हो, यह भोर का तारा है न, उसी छोर में टंका हुआ सोने का कण है, एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है। ···क्यों ?

माधव : बहुत ऊंची कल्पना है ! लिख चुके क्या ?

शेखर : अभी तो और लिखूंगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गए···

माधव : (हंसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर ?

शेखर : (भोलेपन से) क्यों ?

माधव : तुम्हारी परियों और तारों की दुनिया में मैं मनुष्य की दुनिया लेकर आ गया।

शेखर : (सच्चेपन से) कभी-कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

माधव : मुझमें ?—(ज़ोर से हंसकर) तुम अठखेलियां करना भी जानते हो ? · (गम्भीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदय की चीज़ है। मुझ जैसे कामकाजी, राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने-भर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनिया की और ही उलझनें बहुत हैं।

शेखर : माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है ?

माधव : और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की नई-नई उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शेखर : यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी-गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं पर उन्हें पागल......

माधव : कवि··· (अवहेलनापूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो। तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जागते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्त्तव्य है।

शेखर : (भावुकता से) मुझे तो सौन्दर्य ही कर्त्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहां सौन्दर्य दीख पड़ता है, वहां कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है। (स्वर बदलकर) माधव, तुमने सम्राट् के भवन के पास, राजपथ के किनारे उस अन्धी भिखमंगी को कभी देखा है ?

माधव : (मुस्कराहट रोकते हुए) हां।

शेखर : मैं उसे सदा भीख देता हूं। जानते हो, क्यों ?

माधव : क्यों ! (कुछ सोचने के बाद) 'दया सज्जनस्य भूषणम्।'

शेखर : दया ? हूं। (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूं

क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक व्यथा झलक पड़ती है। उसका गहरा झुर्रीदारा चेहरा, उसके कांपते हुए हाथ, उसकी आंखों के बेबस गड्ढे (एक तरफ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो) उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढांचे में ढाला हो।

माधव : (इस भाषण से उसका अच्छा-खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत-भरी आंखें गड़ाते हुए) शेखर, टाट में रेशम का पैवन्द क्यों लगाते हो! ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शेखर : (सरस भाव से) किस देवी की ?

माधव : (अर्थपूर्ण स्वर में) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शेखर : मैं तो नहीं जानता, किस पुजारी को ?

माधव : अपनो को आज तक किसीने जाना है, शेखर ? (हंस पड़ता है। शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है) पागल ! ··· (गम्भीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ तुम छाया को प्यार करते हो ?

शेखर : (मन्द गहरे स्वर में) कितनी बार पूछोगे ?

माधव : बहुत प्यार करते हो ?

शेखर : माधव, जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएं हैं, (तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ) छाया का प्यार और कविता। (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुंह करके खड़ा हो जाता है।)

माधव : और छाया ?

शेखर : (वही गहरा स्वर) हम दोनों नदी के किनारे हैं, जो एक-दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

माधव (उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शेखर : नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उसका हृदय सूखा हुआ है।

माधव : क्यों ?

शेखर : तुम पूछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मंत्री है। भला एक मंत्री की वहिन का एक मामूली कवि से क्या संबंध ?

माधव : मामूली कवि ! शेखर, तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शेखर : और क्या समझूं ?—राजकवि ?

माधव : सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूं।

शेखर : खबर ?

माधव : हां। कल रात को राजभवन गया था।

शेखर : इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

माधव : नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया। गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गए।

शेखर : (उकताकर) आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो माधव ?

माधव : इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनानेवाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था—शेखर।

शेखर : (चौंककर) क्या ?

माधव : अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइए। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शेखर : मैं ?

माधव : (अभिनय करते हुए, झुककर) श्रीमान् क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शेखर : मैं जाऊंगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख

रहे हो ?

माधव : सपने तो तुम देखा करते हो।...लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहां हुआ है ?

शेखर : हां, वह युवती कौन है ?

माधव : अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शेखर : ओह !...छाया ! (माधव का हाथ पकड़ते हुए) ...तुम कितने...कितने अच्छे हो।

माधव : और सुनो।...सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वे तक्षशिला जाकर वहां के क्षत्रप वीरभद्र के विद्रोह को दबाएं। आर्य देवदत्त के साथ मैं भी जाऊंगा, उनका मंत्री बनकर। समझे ?

शेखर : (स्वप्न-से में) तो क्या सच ही छाया ने कहा। सच ही ?

माधव : शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे।...उसके बाद—उसके बाद छाया कहां रहेगी ? भला बताओ तो ?

शेखर : माधव !...(माधव हंस पड़ता है।) इतना भाग्य ? इतना ? विश्वास नहीं होता ?

माधव : न करो विश्वास।...लेकिन भलेमानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? ये बिखरे हुए क़ागज़, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की सीमा होती है।

शेखर : मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूं ?

माधव : और फिर ?

शेखर : मैं परवाह करता हूं फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोदी में सिमेटनेवाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने पर टिमटिमाने वाले तारे की...

माधव : एक चीज़ रह गई।

शेखर : क्या !

माधव : जिसे तुम दिन में वृक्षों के नीचे फैली देखते हो। (उठकर खड़ा हो जाता है।)

शेखर : वृक्षों के नीचे ?

माधव : जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शेखर : दर्पण में ?

माधव : जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है।)

शेखर : (समझकर, बच्चों की तरह) छाया !

माधव : (मुस्कराते हुए) छाया ?

[पर्दा गिरता है।]

(२)

[उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान है। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रखे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण एक अंगीठी रखी हुई है। दीवार के एक भाग पर अलगनी है जिसपर कुछ धोतियां इत्यादि टंगी हैं।]

छाया—(सौन्दर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गांभीर्य का जिसमें स्त्री सुलभ सम्मिश्रण है—गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएं स्थान पर संभालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अंगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अंगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज़ नहीं सुनाई देती है।)

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान,

पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान,
सूर्य का सुन कोमल पद-चाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण।
प्यार की है क्या यह पहचान ?

[धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुस्कराते हुए छाया का गीत सुनता है।]

शेखर : (थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया ! (छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है। फिर कुछ समय) छाया !

छाया : (चौंककर खड़ी हो जाती है। एक साथ मुख फेरकर) ओह !

शेखर : (तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छाया : (उत्सुकतापूर्वक) कौन-सी ?

शेखर : (छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल वाला ग्रन्थ रखता है, और फिर उसपर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुन्दर-सी।

छाया : सुनें, कैसी कहानी है।

शेखर : (बैठकर) एक राजा के यहां एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे, राजा तो उसपर निछावर था। रोज सुबह राजा उसके मुंह से नई कविता सुनता, नई और सुन्दर कविता।

छाया : हूं ? (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है।)

शेखर : परंतु उसमें एक बुराई थी।

छाया : क्या ?

शेखर : वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते तो वह उत्तर देता, 'मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूं।'

छाया : राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शेखर : नहीं। उसने सोचा, कवि के घर पर चलकर देखा जाए कि इसमें रहस्य क्या है। रात को तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदलकर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छाया : उसके बाद ?

शेखर : उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे-आप चलने लगी।

छाया : फिर ?

शेखर : फिर क्या ! राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला बताओ, क्यों नहीं पूछा ?

छाया : बताऊं ?

शेखर : हां।

छाया : राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊं ? (खड़ी हो जाती है)

शेखर : (मुस्कारते हुए) छाया, तुम···

छाया : (टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ) वह गायिका और कोई नहीं उस कवि की पत्नी थी। और बताऊं ? उस कवि को कहानी सुनाने का बड़ा शौक था, झूठी कहानी। और बताऊं ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर···

(इस बीच में शेखर की मुस्कराहट हल्की हंसी में परिणत हो गई है, यहां तक कि इन शब्दों तक पहुंचते-पहुंचते दोनों ज़ोर से हंस पड़ते हैं।)

शेखर : (थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ, तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्यों होती ? तुम तो मेरी कविता हो !

छाया : (बड़े गम्भीर, उलाहना-भरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए

स्त्री एक कविता है।

शेखर : क्या मतलब तुम्हारा ?

छाया : कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है; स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है तब सोचता है, 'चलो थोड़ा मनबहलाव ही कर लें।' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनिया में और कुछ हो ही न और उसके बाद जब चांदनी बीत जाती है, जब कविता भी नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं और वह ऐसे भागता है मानो पिंजड़े से छूटा हुआ पंछी। और स्त्री के लिए फिर वही अंधेरा, फिर वही सूनापन ?

शेखर: (मन्द स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छाया : क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शेखर : लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहां जा सकता हूं ?

छाया : ऊंहूं, मैं नहीं मान सकती।

शेखर : सुनो तो, मेरे लिए जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़े ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूं क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौन्दर्य दीखता है। जिस रोज़ मैं तुमसे दूर हो जाऊंगा, उस रोज़ मैं सौन्दर्य से दूर हो जाऊंगा, अपनी कविता से दूर हो जाऊंगा··· (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जाएगी।

छाया : नहीं शेखर, मैं मर जाऊंगी, किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी, बहुत दिन रहेगी।

शेखर : मेरी कविता ! (कुछ देर बाद)···छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूं, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे छिपा रखा था।

छाया : रहने दो, तुम सदा ऐसे भेद और ऐसी कहानियां सुनाया करते हो।

शेखर : नहीं।···अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (छाया

उठाती है) उसके नीचे कुछ है। (छाया उस ग्रंथ को अपने हाथ में लेती है।) उसे खोलो···क्या है ?

छाया : (आश्चर्यान्वित होकर) ओह, (ज्यों-ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है।) 'भोर का तारा'। उफ्फोह ! यह तुमने कब लिखा ? मुझसे छिपकर ?

शेखर : (हंसते हुए। विजय का-सा भाव) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था ?

छाया : (शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूं, शेखर ! उसी दिन तो भैया को त क्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो उन्होंने तुम्हें और मुझे माता जी का वह पत्र दिखाया था जिसने हम दोनों को सर्वदा के लिए बांध दिया।

शेखर : हां छाया, उसी दिन, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था। (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया।

छाया : शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शेखर : उसे यहां लाओ। (हाथ में लेकर चाव से खोलता हुआ) 'भोर का तारा' ! छाया, यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊंगा। और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरंभ करूंगा, तब, तब सारी उज्जयिनी की आंखें मेरे ऊपर होंगी। महाकाव्य, महाकाव्य ! उस समय सम्राट् गद्गद हो जाएंगे और मैं कवियों का सिर-मौर हो जाऊंगा। छाया, बरसों बाद दुनिया पढ़ेगी कविकुल-शिरोमणि शेखर-कृत 'भोर का तारा'···हा, हा, हा,··· (विभोर)

[छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिच जाती है। शेखर हंस रहा है।]

छाया : शेखर ! (वह हंसे जा रहा है) शेखर ! (शेखर की दृष्टि उसपर पड़ती है।)

शेखर : (सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको ?

छाया : (चिन्तित स्वर में) शेखर ! (चुप हो जाती है।)

शेखर : कहो !

छाया : शेखर, तुम इसे संभालकर रखोगे न ?

शेखर : बस इतनी ही सी बात ?

छाया : मुझे डर लगता है कि···कि···कहीं यह नष्ट न हो जाए, कोई इसे चुरा न ले जाए और फिर तुम···

शेखर : हा, हा, हा,···पगली ! ऐसा क्यों होने लगा ? सोचने से ही डर गई ! छाया, छाया, तेरे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्नता का ! ···इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ! और तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहिन और उज्जयिनी के सबसे बड़े कवि शेखर की पत्नी ! ···तक्षशिला का क्षत्रय और उज्जयिनी का कवि। हूं, हूं, हूं ! ···क्यों छाया ?

छाया : (मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर, हम लोग बहुत सुखी हैं।

शेखर : (मग्नावस्था में) बहुत सुखी ··

[सहसा बाहर कोलाहल। घोड़ों की टापों की आवाज। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है।]

शेखर : कौन है ?

[सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित, शस्त्रों से सुसज्जित, पसीने से नहा रहा है। चेहरे पर भय और चिन्ता के चिह्न हैं।]

शेखर और छाया: माधव !

शेखर : माधव, तुम यहां कहां ?

माधव : (दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया (फिर उस कमरे पर डरती-सी आंखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है।) मैं तुम दोनों से भीख मांगने आया हूं।

[छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है।]

छाया : भीख मांगने, तक्षशिला से ?

शेखर : तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

माधव : (धीरे-धीरे, मजबूती के साथ बोलना प्रारम्भ करता है, परंतु ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों स्वर में भावुकता आती है।) हां, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूं । यहां तक कैसे आ गया, यह मैं नहीं जानता । हां, यह जानता हूं कि आज गुप्त साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख मांगनी पड़ेगी ।

शेखर : गुप्त साम्राज्य संकट में है ! क्या कह रहे हो माधव ?

माधव : (संजीदगी के साथ) शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है । हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है ।

छाया : (भयाक्रांत होकर) तोरमाण !

माधव : उसने सिन्धु नदी को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है । उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है···

छाया : (सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उसकी भुजा पकड़ती हुई) तक्षशिला ?

माधव : (उसी स्वर में) सारा पंचनद आज उसके भय से कांप रहा है । एक के बाद एक गांव जल रहे हैं, हत्याएं हो रही हैं, अत्याचार हो रहा है । शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों की हाहाकार से गूंजने लगेगा । शेखर, छाया—मैं तुमसे भीख मांगता हूं—नई भीख मांगता हूं—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, देश की, इस संकट में मदद करो ।

[बाहर भारी कोलाहल ! शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं ।]

देखो बाहर जनता उमड़ रही है । शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव है । तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूंक सकते हो (शेखर सुने जा रहा है । चेहरे पर भावों का आवेग । मस्तक पर हाथ रखता है ।) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है । शेखर, ओजमयी कविता द्वारा तुम गांव-गांव में जाकर वह आग फैला दो जिससे हजारों और लाखों भुजाएं अपने

सम्राट् और देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है, जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो।) कवि, देश तुमसे बलिदान मांगता है।

छाया : (अत्यन्त दर्द-भरे करुण स्वर में) माधव, माधव !!

माधव : (मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है, फिर थोड़ी देर बाद) छाया, उन्होंने कहा था, 'मेरे प्राण क्या चीज़ हैं, इनमें तो सहस्रों मिट गए और सहस्रों को मिटना है।'

शेखर : (मानो नींद से जगा हो।) किसने कहा था ?

माधव : आर्य देवदत्त ने, अंतिम समय !

छाया : (जैसे बिजली गिरी हो।) माधव, माधव, तो क्या भैया...

माधव : उन्होंने वीरगति पाई है छाया। (छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है, शेखर एक-दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलनेवाला है।) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में हूणों के दलों के निकट जा पहुंचे। वहां उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फंसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे, परंतु एक सच्चे सेनापति की भांति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए अपने प्राण संकट में डाल दिए और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा गया। मैं आज...

[सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उसपर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अंगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज़ को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है।]

छाया : (उसे फाड़ते हुए देखकर) शेखर !

[लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं। छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है; एक सूखी हंसी के वाद वाहर चल देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज़ थोड़ी देर तक सुनाई देती है।]

[माधव द्वार की ओर बढ़ता है]

छाया : (अत्यन्त पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया।

[माधव उसके यह शब्द सुनकर वाहर जाता-जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है; पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे वाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है। शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के गाने का स्वर सुन पड़ता है :]

"नगाड़े पै डंका वजा है, तू शस्त्रों को अपने संभाल
बुलाती है वीरों की तुरही, तू उठ कोई रस्ता निकाल।"

[शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बन्द कर देता है। पुनः शांति। इसके वाद मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है।]

माधव : छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नहीं किया। प्रभात तो अब होगा। शेखर तो अब तक भोर का तारा था। अब वह प्रभात का सूर्य होगा।

[छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है।]

[परदा गिरता है।]

एक दिन

लक्ष्मीनारायण मिश्र

पात्र

राजनाथ : गांव के ज़मींदार
मोहन : उनका लड़का
शीला : उनकी कन्या, मोहन की बहिन
निरंजन : मोहन का मित्र

स्थान : गांव के ज़मींदार का घर

समय : प्रातःकाल

[देहात के किसी गांव में खपरैल का मकान। माटी की दीवारें चिकनी करके चूने से लीपी गई हैं। आगे की ओर काठ के खम्भों पर बना ओसारा। खम्भे काले पड़ गए हैं, उनके रंग से ही उनकी आयु फूट रही है। उनका हीर अब इतना सूख गया है कि जगह-जगह टेढ़ी-मेढ़ी दरारें पड़ गई हैं। जाति का गुण और बल और कहीं माना जाए या नहीं, इन खम्भों की लकड़ी में तो ठोस है। ये शीशम के खम्भे अपनी टेक में पत्थर के कान काट रहे हैं। भीतर जाने का पुराना द्वारा दाईं ओर बाहर से पड़ता है। इससे हटकर तीन नये किवाड़ इस समय के हैं जो अपनी बनावट, लकड़ी और पल्लों से, इस नये युग की बस यही इतनी छाप इस घर पर लगा रहे हैं। इस नये युग का सब काम जब पुराना घर न दे सका, तब बैठक के लिए यह एक कमरा बना लिया गया। भीतर की इतनी जगह ले ली गई। इस कमरे में एक ओर पलंग पर बिछावन बिछा है। नीचे कच्ची धरती पर नई दरी पड़ी है। दूसरी ओर देहाती बढ़ई की बनाई भोंडी मेज के तीन ओर बेंत की तीन कुर्सियां और दीवारों पर कुछ नये-पुराने सस्ते चित्र हैं। ऊपर बांस के फट्टों में कील लगाकर रंगीन चांदनी लगी है। मेज के पीछे एक किंवाड़ दालान में होकर भीतर जाने का है :

भीतर की ओर से राजनाथ का प्रवेश। ऊंचा पुष्ट शरीर। ललाट पर रेखाएं। बाल गंगा-जमुनी, भवें तनी और लम्बी; आंखों में लाल डोरे। सांस कुछ बड़ी चाल में है। एक कुर्सी खींचकर बीच वाले द्वार के सामने धम्म से बैठ जाते हैं। तीन बार हथेली से ललाट पीट लेते हैं, फिर हाथ खट्ट से कुर्सी की बांह पर गिर पड़ता है।]

राजनाथ : चक्रनेमिक्रमेण···चक्र की इस गति को मैंने रोकना चाहा। यह उसीका दण्ड है। बड़े बने रहने के मोह में मैंने पूर्वजों की मर्यादा

मिटा दी। आंधी के वेग में एक-एक पत्ते, हर डाल-टहनी के साथ धरती पर जड़ के साथ आ जाना मैंने नहीं चाहा और अब ठूंठ हूं। मोहन! …मोहन !…

मोहन : जी आया।

[उसी द्वार से प्रवेश। प्राय: बीस वर्ष की अवस्था का युवक। रेशमी कमीज़ और उजली धोती। आंखें धरती की ओर, मुंह पर भय की छाया।]

मोहन : जी इनमें थोड़ा…

राजनाथ : कभी नहीं। जो हो गया…जन्म-भर उसी में जलता रहूंगा। पांच पीढ़ी की बात जानता हूं। अस्सी के नीचे कोई मरा नहीं। मेरे अभी पचपन हैं। उन-सा सुखी नहीं रहा, फिर भी अभी पंद्रह बरस तो चलेंगेही।

मोहन : कितनी बड़ी समस्या से पिंड छूटेगा ? झूठी मर्यादा… अपनी लड़की का सुख आप नहीं देखते।

राजनाथ : गोली मार दो तुम मुझे। उस सुख से बड़ा सुख मिलेगा मुझे इसमें। वंश की मर्यादा तुम्हारे लिए झूठी हो गई, जिसे बचाने में सब कुछ चला गया। बाप-दादों का घर भी चला गया। जिस घर में पैदा हुआ, खेला-कूदा, बड़ा हुआ…जिसमें तुम्हारी मां आई, तुम भी जिसमें जनमे थे, उसके नीलाम की डुग्गी से भी प्राण उतना नहीं बिंधा था जितना आज बिंधा है।

मोहन : सब कहीं यह हो रहा है…बड़े से बड़े घर में… बिना कन्या देखे विवाह अब बड़े घरों में नहीं होता।

राजनाथ : सो तो तुम कर चुके। विष की एक घूंट तो मैं पी गया, दूसरी न पीऊंगा।

मोहन : मैं नहीं समझता, अब इस युग में इसकी बुराई क्या है ! वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर जो…

राजनाथ : जो एम० ए० में पढ़ रहा है; बड़े बाप का बेटा है, जिसका बाप नामी वकील है; जो कभी हाईकोर्ट का जज हो सकता है। जिसकी कोठियां हैं, मोटरें हैं, हटो-बचो जिसके यहां लगा है। क्यों…?

मोहन : हां, तो इसमें झूठ क्या है ? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी ? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिए। लड़कियों का कभी यहां स्वयंवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ : इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूंगा। उसे सीखने के लिए किसी विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊंगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है।

मोहन : अच्छी बात। तो फिर आप जानें…

राजनाथ : इस तरह धमकाकर नहीं बेटा ! झूठा भय और झूठा इतिहास…इस तुम्हारे नये युग में बस यही दो बातें हैं।

मोहन : क्या कहते हैं ?

राजनाथ : लड़कियों का स्वयंवर होता था पर चुनता कौन था ? कन्या या वर ? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण और पौरुष में जो बड़ा होता, उसे कन्या चुनती। जयमाला जिसके गले में पड़ती वह अपने भाग्य पर फूल उठता। उस युग में कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है ? स्त्री-जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षों में गई है उतनी पहले कभी नहीं गई थी।

मोहन : तो यही झूठा इतिहास है।

राजनाथ : यही, और तुम अब कहते हो—मैं जानूं और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। तुम्हारे सांचे का भाग्य था तो मैं मान लूं और नहीं तो फिर मेरी लड़की दुःख उठाएगी।

मोहन : भाग्य मैं नहीं मानता। परिस्थिति सब कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी में नैनीताल होता। इस गांव की धूल में स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ : (हंसकर) तुम्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया। नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात में ! इन्हीं देहातों से वह धन जाता है जिसे निरंजन का बाप नैनीताल में खर्च

करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन ? नंगे पैर गौतम कहां-कहां घूम आए थे ?

मोहन : आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते हैं।

राजनाथ : विना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्हींसे हम धनी हैं मोहन ? इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को। देखो, वहां फिर क्या बचता है ? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन : इस समय का प्रसंग क्या है और आप…

राजनाथ : इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है—मेरे, मेरे पूर्वजों के…निरंजन और उनके पूर्वजों के इतिहास से यह प्रसंग भी जुड़ा है। जो वहुत बड़े बन जाते हैं, प्रकृति उन्हें टिकने नहीं देती। मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के वाद है, वह निरंजन की दूसरी पीढ़ी में होगी। यही इस जगत का चक्र है। ऊपर का विन्दु नीचे और नीचे का विन्दु ऊपर (दोनों हाथों को घुमाकर तर्जनी से परिधि वनाते हैं।)

मोहन : तो इस समय मैं जाऊं, आपका चित्त…

राजनाथ : ठिकाने नहीं है। पुत्र कह रहा है, पिता का चित्त ठिकाने नहीं ! तुम्हारे विचार मुझसे नहीं मिलते, इसलिए मैं पागल हूं। तुम्हारे शब्दों में, तुम्हारे इस युग में इस देश की नई पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है। (उसकी ओर एकटक देखकर) नहीं समझ रहे हो ?

मोहन : क्षमा करें यदि मुझसे…इधर सालों से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ : उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय तुमने खोज लिया। आज के पत्रों, पुस्तकों में ऐसे ओछे काम वहुत मिलते हैं। वाप को पापा और मां को ममी लिखने वाले तुम्हारे लेखक उत्तेजना और आवेश वहुत दे रहे हैं, बस विवेक की ओर नहीं देखते। नहीं तो फिर नये साहित्य का व्यापार वे न चला पाएंगे। वह जो एकांकी-संग्रह तुमने कल यहां

(मेज़ की ओर संकेत कर) रख दिया था···क्या नाम है उसका ?···ऊंह ···उसमें एक नाटक में साइकिल लेकर पापा आफिस चले जाते हैं, दस बजे सवेरे, और दो बजे दिन में ममी लंच की चिन्ता में सुनाई पड़ती हैं और फिर सारा दिन और आधी रात न कहीं पापा हैं, न कहीं ममी हैं— उस घर में। वस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेमलीला। यूरोप और अमरीका में भी इतना मद नहीं, जिसमें यह देश डूब रहा है।

मोहन : तो आपका कहना है कि मैं निरंजन को यहां ले आया, किसी ठोस कार्य के लिए नहीं ! यदि यह हो जाए तो इसका सुख आपको न होगा ? शीला रानी वनकर न रहेगी ?

राजनाथ : यही मुझे डर है। रानी वनाने के मोह में कहीं तुम उसे वोर न दो। जहां आरम्भ ही अशुद्ध है वहां अन्त क्या शुद्ध होगा ? और इन दो दिनों में निरंजन ने उसे कई वार देखा। तुम्हारे साथ उसने उसे भी भोजन कराया, जलपान कराया। विना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है वैसे उसके सामने भी रही।

मोहन : यही तो नहीं रहा। कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई वार वह उसका नाम लेकर बुलाता रहा। एक गिलास पानी के लिए वह उसके पास नहीं गई। क्या कहेंगे आप, यह उसका अपमान नहीं हुआ ? वह तो रात को ही जाने को तैयार था। मैंने वड़े आग्रह से उसे रोका और कहा कि वच्ची है, जाने दो।

राजनाथ : और अव वह उससे अकेले में वात कर निर्णय करेगा। उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नहीं, और तव उसे स्वीकार कर तुम्हें कृतार्थ करेगा या कह देगा, नहीं जी, मुझे पसन्द नहीं। नौकर से पानी न मांगकर उसने तुम्हारी वहिन से मांगा !

मोहन : ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी। समाज वदल गया। मैंने कहा भी, उसे कोई लड़कियों का स्कूल ही धरा दें। आप रामायण, महाभारत पढ़ाते रहे—उसका परलोक वनाने के लिए ! यह लोक बने या न

बने। उसके सामने जाने में उसे लाज लगती है—एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर। जैसे उसका जन्म इसी बीसवीं सदी में नहीं, सोलहवीं या पन्द्रहवीं में हुआ हो।

राजनाथ : हूं, तो इस युग की लड़की में आत्मसम्मान नहीं है। वह उस पुरुष के चारों ओर भांवर देती है जो उसे देखकर, बातें कर, बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है। नीच ! एक शब्द भी मेरी लड़की के विरुद्ध कहा तो जीभ खींच लूंगा। उसके शरीर में मेरा, मेरी सात पीढ़ी का रक्त है जो सम्मान के लिए मर मिटी। तुम्हारे ऐसे पुत्र से यह पुत्री भली जिसने कम से कम अपना, अपने मां-बाप का सम्मान तो रखा। रामायण और महाभारत को पढ़कर जो वह असभ्य या अपढ़ है उसका पता तब चले जब किसी दिन तुमसे वह बातें करेगी। और ठीक है, करेगी वह एकांत में बातें तुम्हारे इस देवता से···मन और बुद्धि के नहीं, धन के देवता से।

मोहन : नहीं, जाने दीजिए। मैं उसे अभी स्टेशन पहुंचा आता हूं।

राजनाथ : अभी नहीं। बैठ जाओ वह कुर्सी लेकर। तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजनकुमार देहात देखना चाहते हैं। मैंने लिख दिया, लिवा लाओ। जिस घर के अतिथि किसी समय नवाब आसफुद्दौला रह चुके थे, कुंवरसिंह और अमरसिंह सत्तावन वाले विद्रोह में जहां तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पड़े रहे, इस बिगड़े समय में भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है। मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे। विवाह के पहले तुम्हारी बहिन को कोई उस आंख से देखे और तुम उसे फोड़ न दो !

मोहन : पर उसने किसे ऐसी आंख से देखा कि···

राजनाथ : जो काम वह किसी नौकर से ले सकता था वह उसने तुम्हारी बहिन से लेना चाहा···केवल इसलिए कि अकेले में वह भर आंख उसे देखे, दो बातें पूछे···इसके बाद वह उससे कहता पैर दबाने के लिए··· (क्रोध से कांपते हैं।)

मोहन : राम-राम ! कितना अनर्थ कर रहे हैं आप ? शीला के भाग्य में जो होगा, होगा। अब तो इसी क्षण निरंजन यहां से चला जाए।

राजनाथ : इस घर ने बड़े चढ़ाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नहीं देखा। यह धरती फट जाती और मैं इसमें समा जाता। यही था तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती।

मोहन : मैं जानता था कि लड़की दिखाने को आप तैयार न होंगे।

राजनाथ : इस तरह नहीं। श्री चौधरी से जब और सब बातें तय हो जातीं, मैं उन्हें लड़की दिखा देता, पर निरंजन को कभी नहीं। विवाह के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है। पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है, कन्या का नहीं। तुम जितना समझते हो मैं उतना जड़ नहीं हूं। प्रगति रोकने मैं नहीं जाता, बस इतना जान लो, प्रगति अन्धों की नहीं आंखों वालों की होती है।

मोहन : सामन्त-विचारधारा अभी आपकी नहीं छूटी है। हर बात में आप मर्यादा और आदर्श डाल देते हैं, यहां तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नहीं देखते।

राजनाथ : तोते की रट—सुख, सुख, सुख जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जाएगा। उसकी होनी क्या है··· भगवान् उसे सुख न देना चाहे तो फिर सोने का अम्बार भी धूल हो जाएगा। मैं सामन्त-विचारधारा में पड़ा हूं और तुम धन के मोह में। धन के सामने तुम्हारे लिए बहिन का मान भी मिट रहा है। पूंजीवाले बनिये से सामन्त कभी बुरा नहीं होता। मर्यादा और आदर्श की बातें चाहे झूठी भी क्यों न हों, व्यक्ति को नीचे नहीं उतरने देतीं। गीध की तरह डैने खोलकर वह ऊंचे आकाश में भर जाता है। (कांपकर) कुछ नहीं, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरंजन से ? कैसे तुम्हारी बातें यह मान गया ? तुमने कहा होगा···अपनी बहिन के लिए अपने-आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा।

मोहन : जी नहीं···हम दोनों में परस्पर परिचय और स्नेह बढ़ा। होस्टल से अपनी कार पर वह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था।

जहां इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की वात चलती ही है। उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ : यह तुमने कहा, जिसने अच्छे दिन कभी देखे नहीं। पर मैं जो सब देख चुका हूं, कभी नहीं कहता कि मेरे दिन बुरे हैं, जिस युग की हम उपज थे जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती ? राज्य मिट जाते हैं। बड़े से बड़े वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते हैं; पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान वह लौ है। तुमने अपने बुरे दिन की वात कही और वह दया में पिघल उठा। जहां किसी भी रूप में दया की मांग है वहां व्यक्ति मर जाता है, जीता नहीं। शीला का पता उसे कब चला ?

मोहन : उसके घर में उसकी वहिन है। उसकी आयु भी शीला की है। इसी वर्ष उसने इण्टर किया है। वह बरावर मुझसे खुलकर वातें करती है। उसकी मां, चौधरी, साहब, उसके व्यवहार में वनावट मुझे कहीं नहीं देख पड़ी।

राजनाथ : इसीलिए कि अभी वे वाढ़ पर हैं। अपनी वाढ़ में वे तुम्हें भी वहा रहे हैं। किसी दिन यह वाढ़ निकल जाएगी और पीछे छोड़ जाएगी कीचड़ और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग कर देखो। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग कर देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग में जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार से नहीं, अपने गुणों से आगे बढ़ेगा। अपने घर की सामन्त-भावना के विरोधी निरंजन के धन की चमक में आंखें न मूंद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नहीं जानता।

मोहन : क्या ?

राजनाथ : चौंकने की वात नहीं। अपने पिता को छोड़कर, अपने कुल की कोई वात वह नहीं जानता। इतिहास की बातें और जो कुछ वह जानता हो, अपने घर का इतिहास नहीं जानता।

मोहन : कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उससे ? वकील साहब पांच बजे सवेरे बैठते हैं, दस बजे तक दम नहीं लेते। स्नान और भोजन में बस बीस मिनट···हाई कोर्ट और लौटकर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम संकट नहीं है।

राजनाथ : अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लड़ते-मरते रहे। उन्हें अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलों और सेठों को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज धन पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना मैं जानता हूं उससे अधिक वे भी नहीं जानते।

मोहन : तो आपका परिचय उनसे है ? आप तो मुस्करा रहे हैं।

राजनाथ : (हंसकर) हां···और तुम अब सुन लो। रात निरंजन से बातें कर मैं जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन : क्या कह रहे हैं आप यह सब···?

राजनाथ : मुझे याद पड़ रहा है। सात-आठ का रहा हूंगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गझिन मूंछ, लम्बे काकुल, सिर पर केसरिया रंग की कत्ती, आंखों में सुरमा और होंठों पर पान की लाली। अंग्रेज कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढ़ी में रहा। रघुनन्दन उन दिनों बाबूजी के मुन्शी थे। रियासत का बहीखाता, हाकिमों की आव-भगत, सब कुछ उनके हाथ में था। आठ बजे सवेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ बजे, दिन-भर के काम की बात उन्हें बताकर गढ़ी में ही पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन : वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी ?

राजनाथ : उनके बाप थे।···बड़े हंसोड़ और मौके की बात कहने-वाले। अंग्रेज़ कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबूजी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशगार बनाएगा। चौधरी हमें छोड़ना नहीं चाहते

थे। जाते के समय इतना रोए कि बाबूजी ने अपने अंगोछे से उनके आंसू पोंछकर कहा था—जब चाहो यहां आ जाना, यह घर तुम्हारा है। चौधरी चले गए लेकिन उनकी स्त्री और लड़का, जो मुझसे बहुत छोटा था, गढ़ी ही में रहे। कितने दिन, ठीक-ठीक नहीं कह सकूंगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढ़ी के बाहर जंगल में एक दिन हम दोनों दौड़ रहे थे, देवनन्दन मेरे धक्के से गिर पड़े और यहां भौंह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धंस गई। यहां उनके कोई चोट का निशान है?

मोहन : (विस्मय) जी हां, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिए, आपने मुझे क्षमा किया। नहीं तो इस दुःख से मैं बीमार पड़ जाऊंगा।

राजनाथ : लड़की की तरह नहीं···लड़के की तरह। तुम लोग थोड़ी आंच भी नहीं सह सकते। किस बात का दुःख है तुम्हें? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड़ गिरते हैं, उखड़ जाते हैं, उनकी जगह नये बढ़ते हैं। यही क्रम है। तुमने भगवान के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन : तब क्या हुआ?

राजनाथ : रघुनन्दन चौधरी ने लड़के और स्त्री को बुला लिया। अपने-आप पेशकार से बढ़कर डिप्टी हुए। लड़का पढ़ता गया और आज नामी वकील है। कल हाई-कोर्ट का जज हो सकेगा। सब कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़ें जल्दी नहीं उखड़तीं। शीला और निरंजन के संस्कार में अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमें मुझे सन्देह है। तुम भाई हो और मैं बाप हूं। उससे इस विषय की कोई बात पूछो तो नहीं बता सकेगी, फिर भी अभी मैंने देखा वह किसी चिन्ता, सीधे किसी दुःख में थी।

मोहन : इसका कारण मैं हूं। मैं कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहां तक कहा कि यदि तुम उनसे ढंग से बातें न करोगी तो मैं तुम्हारा मुंह न देखूंगा।

राजनाथ : सगी बहिन के साथ तुम ऐसा व्यवहार करो ! इतना जान लो, उपन्यासों और कहानियों से संसार नहीं चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया इसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पड़ेगा। जो मैं नहीं चाहता वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर में दुखी न रहे, यह तो मैं कर सकता हूं। मेरा विश्वास, मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूं। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझाकर, समझूंगा तो फिर निरंजन से भी मैं ही·········

मोहन : अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबूजी···निरंजन चला जाए। मेरी बहिन किसी दूसरे घर, जिसका इतिहास, संस्कार इस घर से मेल खाए···

राजनाथ : सामन्त-भावना में अब तुम आ रहे हो। जो मर गया उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है। कुल और वंश के अभिमान को भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे। भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है। जाओ, भेज दो शीला को। उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा पर भी न रुकेगा। मैं भाग्य-वादी हूं। इस अवस्था में इतने चढ़ाव-उतार के बाद कोई भी भाग्यवादी हो जाता है।

[मोहन का प्रस्थान। राजनाथ कुर्सी से उठकर पलंग पर पड़े रहते हैं और तकिये में मुंह छिपा लेते हैं। शीला का प्रवेश। भरी आंखें, पलकें गिरती नहीं। सुन्दरता के अमृत में विषाद मिल गया है। उसके चलने की आहट नहीं होती। आंचल से आंखें पोंछती है।]

शीला : (भरे कण्ठ से) आ गई मैं बाबूजी ! आप कांप रहे हैं। मैं मर गई होती; आप रोते तो नहीं ? (तकिया हाथ से खींचकर, उनकी छाती पर सिर रखकर सिसकने लगती है।)

राजनाथ : (झटके से उसे संभालकर बैठते हुए) बेटी के लिए बाप कब नहीं रोगा ? नहीं, देखो, सुनो भी। जानकी के लिए विदेह जनक भी रोए थे। मैं रोया तो कोई बात नहीं। न मानोगी, तुमसे कुछ पूछना है।

शीला : आप क्या नहीं जानते मेरा ? आपसे मेरा कुछ छिपा है ?

भैया नहीं जानते, मेरा मुंह नहीं देखेंगे।

राजनाथ : उसका मुंह मैं नहीं देखता, पिता का प्राण जो इस देह में न होता। फिर भी वह तुम्हें सुखी देखने के लिए......

शीला : सुखी देखने के लिए मुझे इतना बड़ा दुःख ? आपके जीते-जी ? वह अपने घर के बड़े होंगे, इस घर की बड़ी मैं हूं। आपके पास धन नहीं है पर क्या भाव भी नहीं है मेरे लिए ? किसी पेड़ के नीचे...झोंपड़ी में मैं सुखी रहूंगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में बीत गए। मैं क्या कहूं ? जिसका संग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाए, इससे बड़ा धन सोने-चांदी में लिपटना नहीं है।

राजनाथ : वह युग अब नहीं रहा बेटी ! इस देश में अब जानकी की नहीं...क्या कहूं ? किसकी बात चलेगी ?...होगी वह कोई विदेश की नारी, पुरुष को धक्का देकर बढ़नेवाली। बैंक में उसकी लम्बी रकम होगी।

शीला : उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा ? सचमुच पति की आंख में आंख गड़ाकर देखती होगी ?

राजनाथ : इस युग में हम अपना सब कुछ विदेशी आंखों से देख रहे हैं। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे हैं, अपने को भूलकर, अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूलकर। आगे चलने में जो पीछे देखते नहीं थे, वे ही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं, स्वतन्त्र भारत की स्वतंत्र नारी को अब सब कुछ फाड़ फेंकना है। जानकी उसके लिए बड़ी भोली और धर्म-भीरु हैं...उनमें बुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला : जी, वे भाषण न दे सकीं (मुस्कराती है)। दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए न जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते ! आज की नारी यही कहेगी। पर आपने मुझे इस युग की चकाचौंध में जाने भी नहीं दिया। मुझे तो जानकी के त्याग में ही उनका सबसे बड़ा अधिकार देख पड़ा है। वह अधिकार अब तक नहीं मिटा, कभी नहीं मिटेगा। अकेली एक जानकी

में इस देश की नारी जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ : अब तुम निरंजन से बातें कर सकती हो। वह चाहता है कि··· (ऊपर देखने लगते हैं।)

शीला : कोई बात नहीं। जानकी रावण से बातें कर सकी थी, फिर भी रावण का संगम इन निरंजन में होगा या नहीं? रावण इतना लोलुप नहीं था। वह अशोक-वन में जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया; और उन्हें अकेले में बातें करनी हैं।

राजनाथ : देश के सभी पढ़े-लिखे लड़के इस समय निरंजन हैं, उनमें रावण का भी संयम नहीं है।

शीला : तो फिर इनके रोग की दवा यहां की लड़कियां करेंगी। हम सबको सीता बनना पड़ेगा। (कुछ रुककर) तो कहां उनसे मुझे बातें करनी होंगी?

राजनाथ : लेकिन क्रोध नहीं बेटी। तुम लाल हो गईं।

शीला : आपके सामने। उनके सामने मैं न लाल हूंगी, न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे···

राजनाथ : सोच लो, जो तुम धीर बनी रहो।

शीला : सोच लिया। आपको कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूं। मैं फिर उनके सम्मान को ठेस न दूंगी।

[मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा में कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।]

राजनाथ : क्या है। ऐसे घबराए क्यों हो?

मोहन : जा रहा हूं···उसे स्टेशन पहुंचा दूं। मैंने उसे यहां बुलाकर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या···क्या···कह रहा है। कहें तो उसके पूर्वजों का इतिहास उसे सुना दूं।

शीला : घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर दया आ रही है, यह मुझे समझते क्या हैं? बाबूजी! यह बेचारा मन और

आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिए कुछ नहीं छोड़ता। सब-कुछ वर्तमान में दबा रहा है ? सौ वर्ष जीने से अच्छा है, इसके लिए एक दिन या बस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन-भर के लिए एक ही दिन खा लेना चाहता है।

राजनाथ : (गम्भीर मुद्रा में) हंसी सूझती है तुझे···

शीला : झूठ-मूठ मैं रो पड़ी। आप भी रोए। मनुष्य को विपत्ति पर ही हंसी आती है और इससे बड़ी विपत्ति कहां हम लोग देखेंगे ? (हंसने लगती है।)

राजनाथ : हूं···हूं···पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बातें करेगी ?

मोहन : अब यह उसके सामने क्या जाएगी··· (क्रोध और ग्लानि की मुद्रा)।

शीला : तो फिर वह देवता यहां से ऐसे ही रोगी चले जाएंगे ? निर्बल-चरित्र को हंसी नहीं आती—आपने एक बार कहा था बाबूजी !

राजनाथ : तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हंसनेवाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम से कम मिल-मशीनवाले पूंजीपति और चोर बाजार वाले तो हंसते ?···उनकी तिजोरियां भरी पड़ी हैं। पर मन खाली है। चरित्र-बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े कांप रहे हैं, जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नई शिक्षा क्या हुई, चरित्र की बागडोर छोड़ दी गई। मन के विचार और भावना की आंधी में सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।

मोहन : मैं जल रहा हूं और आप मुझपर व्यंग्य कर रहे हैं ?

राजनाथ : जो जलता है व्यंग्य उसी पर किया जाता है बेटा ! तुम क्यों जल रहे हो ? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया ? फूल में भी कांटे होते हैं। विपरीत परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुष है और तुम जानते हो, सब-कुछ अनुकूल ही नहीं होता। निरंजन कभी तुम्हारा

आदर्श था और अब तुम्हारी आंखों में वह इतना नीचे है। दोनों ही झूठ हैं। दोनों को मिलाकर बराबर करो, तब तुम्हें निरंजन मिलेगा। शीला, बुलाऊं उसे यहां ? उसे आघात तो न पहुंचाओगी ?

शीला : मुझपर कुछ भी सन्देह हो तो नहीं। मैं उन्हें घृणा नहीं करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिए। आप जानते हैं, मेरा उनसे कुछ परिचय नहीं है।

राजनाथ : (उठकर) तब मैं उसे बुला लाऊं। तुम यहां न रहना मोहन, जब वह आ जाए।

मोहन : अब इसका फल कुछ नहीं है। यह होना चाहिए था पहले, अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ : नदी की बाढ़ उतर जाती है। मन का वेग न उतरता, तब तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता। और फिर तुम्हें वह जान गया, इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा।

[प्रस्थान]

मोहन : तुम उससे अकेले में बोल सकोगी ?

शीला : मैं उनसे डरती नहीं। वह बोल सकेंगे मुझसे ? मुझे सन्देह तो इसीका है। बाप के धन का बल शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नहीं बनेगा। देख लेना, उन्माद जो उनमें आ गया है, पल-भर में उड़ जाएगा। बाबूजी से नहीं कहा, मुझसे तो कहा होता कि तुम्हारे मित्र यहां मेरे लिए आए हैं।

मोहन : मैं क्या जानता था कि तुम ऐसी जिद्दी हो।

शीला : इसका उत्तर मैं उन्हें दूंगी। मेरा मुंह तुम अब तो देखोगे !

मोहन : मुझे लजाओ न शीला। तुममें मुझसे बुद्धि अधिक है।

शीला : बुद्धि स्त्री है और बल है पुरुष। बुद्धि और बल के मेल से व्यक्ति बनता है; लुक-छिपकर बुद्धि चलती है, बल को यह कला नहीं आती।

मोहन : क्या ? कैसे देख रही हो ? शीला, तुम्हारी तबीयत ठीक

नहीं है। तब वह यहां नहीं आएगा।

शीला : रुको। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन : किसके लिए ?

शीला : तुम्हारे मित्र से बात करने के लिए। एक-एक सांस का बल मुझे बटोरना होगा। उनके सामने मेरी आंखें नीची न पड़ें। यही चाहते हैं वह। अपना और मेरा अन्तर वह देख लें।

मोहन : तुम्हारे मुंह का रंग हर पल जो बदल रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला : मन की गति जो हर पल बदल रही है। मन के बीज मुंह पर आते हैं। तुम्हारी बहिन की आज परीक्षा है। परीक्षक है एक पुरुष, जो तुम्हारा मित्र बनता है। कैसा मित्र है वह ? क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए, जब तुम्हारी बहिन के लिए वह इतना निर्दय है।

मोहन : मैं उसे यहां नहीं आने दूंगा। (उठता है।)

शीला : (उसका हाथ पकड़कर) मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूंगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। नहीं···तनिक नहीं, तुम न घबराओ। मुझे स्वीकार कर वह तुमपर कृपा करता। अब वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी बहिन उसे दो। भैया, तुम उसकी एक बात न सुनना और कह देना, तुम अयोग्य हो। चाहिए तो वह था कि लुक-छिपकर मैं उसे देखती (हंसकर) और जब लुक-छिपकर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्तर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहां जिसकी ओर मैं··· (नाक और भौंहें टेढ़ी पड़ती हैं।)

मोहन : लुक-छिपकर वह तुम्हें देखना चाहता था। नीच···

शीला : नीच नहीं, निर्बल। जिसकी पुरुष-देह में स्त्री का मन है, जो प्रणय की भीख मांगता फिरता है, अपने घर का संकट जानकर···जानकर कि मेरे भाई मेरे सुख और सुविधा के लिए, मुझे रानी बनाने के लिए अपने सम्मान का त्याग कर रहे हैं, जिससे बड़ा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नहीं, यही चाहती थी मैं कि यह संयोग बैठ जाए। वह मुझे खींचना

चाहता था। अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से किसी न किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूं, मुझे देखता रहे, मुझसे बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन में वह सब कुछ जान जाए, उसकी सारी भूख मिट जाए।

मोहनः कुछ न कहो। अब मैं सिर पीट लूंगा।

शीला : इतने सीधे हो भैया तुम ! तुम्हारे मित्र के हाथ में लांसेट बराबर रहता है। वह सब कहीं बहुत गहरे चीरकर देखते हैं वहां क्या है ? और तुम ऊपर की चमक-दमक में यह नहीं देख सके कि भीतर कितना विष है उनके ! सिर पीटने से नहीं बनेगा। हंस सको तो उनकी मूर्खता पर हंसो। पुरुष का गुण न तो धन है, न रूप, न विद्या। कहां तक वह अपने को रोक पाता है ? कितना संयम उसमें है ?

मोहन : ऐं, कैसी आहट है ! आ रहा है तब वह···शीला, उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है। कम से कम इतना···

शीला : आधी बात कहते हो। कहो, फिर मैं क्या कहूंगी ? अपमान वह स्वयं अपना करते हैं। मैं उनका अपमान क्या करूंगी। पुरुष जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नहीं रह जाता। फिर भी विश्वास करो, मैं अपने पर अंकुश रखूंगी।

मोहन : और वह जो कुछ पूछे उसका निडर उत्तर दोगी ?

शीला : (हंसकर) तुम्हारे मित्र मुझसे लड़ेंगे नहीं। डरने की बात क्या है ? रावण की लंका में जानकी उससे नहीं डरी और अब मैं अपने घर में उनसे डरूंगी ?

मोहन : तुम जानकी नहीं हो। यह युग अब जानकी का नहीं है।

शीला : जानकी का युग इस देश से कभी नहीं मिटेगा। मैं जानकी हूं। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है, तब तक हम वही हैं। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक हैं इसलिए असत्य हैं। मेरे लिए वह भावगम्य हैं। उनके

भीतर मेरी सारी समस्याएं, सारे समाधान हैं। राम में तुम अविश्वास का सकते हो, जानकी में अविश्वास का अधिकार तुम्हें नहीं।

[निरंजन का प्रवेश। अवस्था प्रायः तेईस वर्ष। लम्बा छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक, आंख पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा। प्रभाव की मुद्रा।]

निरंजन : गाड़ी का समय जा रहा है मोहन !

शीला : इस समय आप नहीं जाएंगे। आइए, वैठिए।

निरंजन : जी, आपके वावूजी भी यही कह रहे हैं, लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला : वैठिए भी, चले जाने वाले को कव किसने रोका है ?

निरंजन : आप भी वैठें (मेज के पास कुर्सी पर वैठता है। मोहन निकल जाता है।) कहां जा रहे हो ?

मोहन : (नेपथ्य में) तुम्हारा सामान ठीक कर दूं।

शीला : आप मुझसे अकेले में वातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन : इसीलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। वोलिए···

शीला : वाप के घर में···मायके में कोई भी लड़की आप जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नहीं जानते आप ?

निरंजन : उंह···आपके विचार बहुत पुराने हैं। नया भारत अब आप लोगों से कुछ और चाहेगा।

शीला : भारत वही पुराना है। आप उसे नया वनाकर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हैं। वह क्या चाहता है, उसको देखिए, उसको समझिए। जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिए।

निरंजन : इस युग का···इस बीसवीं सदी का स्वतंत्र भारत पुराना है ? पुराने विचारों में, पुरानी रूढ़ियों में जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात में हैं। शहर में रहतीं, वहां की लड़कियों को देखतीं, सिनेमा और स्त्रियों के समाज में जातीं···

शीला : कहीं भी रहती···कहीं भी जाती, फिर भी मेरी आंखों में भारत नया नहीं लगता। इसकी चाल कभी रुकी नहीं; न यह कभी मरा, न मिटा। एक सांस भी इसकी कब बन्द हुई, बताएंगे? इसने कितने देशों को जन्म लेते और मरते अपनी आंखों देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी शक्ति की प्रतिष्ठा कीजिए।

निरंजन : अरे···आप बड़ी भावुक हैं। मैं तो गनगना उठा।

शीला : इसकी पताका जब प्रशांत से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी, उस समय अपनी कन्याओं से जो इसने चाहा, अब न चाहेगा!

निरंजन : यह कविता की भाषा मैं नहीं समझ रहा हूं।

शीला : आप जिस सांचे में ढल चुके हैं, उसमें इस पुराने देश को न ढालिए। इसका अपना सांचा है; बने तो अभी भी समय है, उसमें अपने को ढालिए। जिस देश की रूढ़ियां मिट जाती हैं वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन : आप तर्क करना जानती हैं। मैं तो समझे था कि···

शीला : आप समझे थे, मैं गूंगी हूं। आपके सामने मैं बोल न पाऊंगी।

निरंजन : जो कहें आप·· फिर भी जिसके साथ जीवन-भर रहना हो, उसे ठीक से जान लेना···मैं ही नहीं, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला : जो आप-सा सजग रहेगा। थोड़ी देर किसी लड़की से बातें कर उसके भीतर का सब-कुछ खोलकर देख लेना, इसमें वह बराबर ठगा जाता है, फिर भी उसे चेत नहीं होता।

निरंजन : भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना ठगा जाना है? कैसी बेढंगी बात आप कह रही हैं।

शीला : आपकी अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है। और कहीं संयोग से लड़की सुन्दर हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा? उन्मत्त क्या समझेगा? इसलिए अपने आप न देखकर किसी दूसरे से दिखा लेना आप ऐसों के हित की बात है। आपको साहस कैसे हुआ कि यहां तक चले आए मुझे देखने के लिए?

निरंजन : आपके भाई ने मुझसे प्रार्थना की···

शीला : उनकी प्रार्थना पर आप कुएं में कूदेंगे, सांप उठाकर गले में लपेट लेंगे ! भावी पत्नी ! पत्नी कब और कहां भावी हुआ करती है ? जब तक वह आपकी हो न जाए, आप उसके न हो जाएं··· (हंसती है।)

निरंजन : तो इसीलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नहीं आईं, मुझसे भागती फिरीं। मैं समझता था, देहात की लड़की होने से आप लजा रही हैं। आप पर्दे में रहना चाहेंगी।

शीला : जी···अकेले एक पुरुष में जिस स्त्री का प्राण समा जाता है वह किसी न किसी प्रकार के पर्दे में रहना ही चाहती है। लुक-छिपकर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे। बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया। दो बार मैं गई भी, फिर भी आपका संतोष इतने से नहीं हुआ। मैंने देखा, आप संयम तोड़ रहे हैं, आपका स्वभाव बिगड़ रहा है।

निरंजन : मेरे स्वभाव की आलोचना करने का अधिकार आपको नहीं है। मैं यहां बुलाने पर आया था, आप जानती हैं ? इस भभकती लू, धधकते आकाश में मैं नैनीताल होता।

शीला : मेरे लिए आपको कष्ट हुआ, इसकी मैं कृतज्ञ हूं। आपके स्वभाव की आलोचना मैं न करूं, आपका मन करेगा, समाज की मान्यताएं करेंगी, और अब मुझे भी क्यों नहीं है यह अधिकार महोदय ? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे। सब कुछ मैं आपको अभी दे देती, तो फिर बाद के लिए क्या रखती ? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके हैं। अब आप जब किसी दूसरी लड़की को देखने जाएंगे, आपके मन में मैं झूल उठूंगी—आंखों में लहरा जीऊंगी। मुझे पाकर आपकी आंखें उस बेचारी को देख न पाएंगी। पहले और भी कोई लड़की देख चुके हैं आप ?

निरंजन : इससे आपका मतलब क्या है ? देखा हो, या न देखा हो ? मैंने कष्ट दिया आपको, क्षमा करें, मैं अब चलूं। (कुर्सी से खड़ा होता है। शीला बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेती है।)

शीला : अभी आप नहीं जायेंगे। अभी आपने ठीक से न मुझे देखा, न समझा। और फिर रूठकर आप चले जाएं! इस देश की सबसे बड़ी पत्नी की कामना में आप यहां आए थे और लेकर जाएंगे क्या?

निरंजन : आप तो मुझे चक्कर में डाल रही हैं? आपको समझना बड़ा कठिन काम है। कहिए, फिर न जाऊं तो क्या करूं?

शीला : पुरुष की समझ में स्त्री कभी नहीं आती। मुझे आप जितना ही अधिक समझना चाहेंगे, मैं आपसे उतनी ही दूर होती जाऊंगी। संदेह का भार पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरंजन : तब?

शीला : यह अवसर न दीजिए कि स्त्री की जीभ चले; वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल बने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा; स्त्री में वह बराबर डूबता आया है।

निरंजन : मनुष्य की सीधी बोली में कहिए। संकेत की यह भाषा मैं नहीं जानता।

शीला : तब आपने इतना सचेत, इतना सजग क्यों रहना चाहा? कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते हैं; वहां कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन : (विस्मय में) तो फिर कह दें, मैं भी जान लूं।

शीला : सच कहते हैं? अपने मन को टटोल लीजिए। सन्देह की छाया भी वहां न हो।

निरंजन : मुझे अधिक लज्जित न करें।

शीला : स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है, जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नहीं रहता, संकट से जूझता चलता है। जिसमें वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण में उठा ले, आंखों में बन्द कर ले। कल रात-भर आप जागते रहे। अभी यह दशा है तो आगे क्या होगा?

निरंजन : (विस्मय में) ऐं...कैसे जानती हैं आप, कि मैं रात-भर

जागता रहा ?

शीला : हम कैसे जानती हैं ? इस चिन्ता में न पड़ें। आकाश के तारे कहते हैं हमसे, पेड़ की पत्तियां कहती हैं, हमारे कान अधिक सुनते हैं। हमारी आंखें अधिक देखती हैं। आप ही कहें, रात-भर आप जगे रहे या नहीं ? आप जो कहें, वही मैं मान लूंगी।

निरंजन : ठीक कह रही हैं···रात मुझे नींद नहीं आई।

शीला : लेकिन क्यों ? क्या इस आयु में आपको कंकड़ों पर नींद न आ जानी चाहिए ? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है ? यह देश नया नहीं पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमें जो पैदा हों, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पककर हिमालय की आभा पैदा करें। आपको नींद न आने का अर्थ है कि आप इस देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं। नये के फेर में न पड़कर पुराने को समझें; आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी में कल्याण है।

निरंजन : तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बातें करने का···

शीला : जी···आज मैं आपके समाने हूं···आप मुझे इस रूप में देख रहे है···कहीं मैं बीमार पड़ जाऊं···कोई अंग सूना पड़ जाए, एक आंख फूटजाए तब तो आप मुझे छोड़ देंगे ?

निरंजन : मैं इतना नीच हूं ! क्या कह रही हैं आप यह ? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमें प्रेम और कर्तव्य दोनों हैं।

शीला : फिर देखने या बातें करने में क्या धरा है ? सन्देह से जहां आरम्भ है वहां अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अंधी या लंगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आपसे करेगा ? अपने मित्र का विश्वास आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता।

निरंजन : (मुस्कराकर) विवाह के बाद···

शीला : तब क्या, और तब मैं आपके चारों ओर ऐसे, भांवर देती

जैसे वह पृथ्वी सूर्य को भांवर देती है। उसके लिए आपको प्रयत्न न करना पड़ता। आपके आकर्षण में बंधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसे यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में विवश है।

निरंजन : शीला···इधर देखो···

शीला : अभी नहीं, पहले वह आकर्षण···और तब इसके लिए मैं विवश रहूंगी।

निरंजन : तब मैं कह दूं तुम्हारे बाबूजी से ?

शीला : कह दो···लेकिन इस नये युग का नया पुरुष यह सब कहने-कहाने में रूढ़िवादी बनेगा।

निरंजन : तो तुम अभी आघात करती चलोगी ?

शीला : जब तक हम दोनों दो व्यक्ति हैं।

निरंजन : दो व्यक्ति तो हम बराबर रहेंगे ?

शीला : यह नया मत है, पुराने में दो व्यक्तियों के भेद और साहस का मिट जाना ही प्रणय है। यहां न रुचि-भेद है, न बुद्धि-भेद। शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है।

निरंजन : यह सब तुम कहां जान गईं।

शीला : अपने संस्कार से। सब-कुछ पढ़ा ही नहीं जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है।

निरंजन : कैसे कहूंगा, मुझे तो लाज आ रही है। कल तक यह जितना सरल था, अब नहीं है। मैं यहां अपने मित्र का उपकार करने आया था और अब यह मेरे साथ उपकार हो रहा है।

शीला : बस, वही पुरानी बात। कन्या के प्रार्थी यहां बराबर पुरुष होते रहे हैं। तुम्हें भी वही करना पड़ा। इस नये युग, इस नई सभ्यता में भी। तुम्हें भी दान लेना पड़ेगा किसीकी कन्या का।

निरंजन : और वही दान मेरा सबसे बड़ा धन होगा, शीला! मैं भूला था। अब मुझे नींद आएगी, ऐसी गहरी कि तुम···

शीला : गला क्यों भर आया ? इतने अधीर अभी···

निरंजन : सम्भवत: हम लोगों का पूर्व जन्म का संयोग था…

शीला : निश्चित। जीवन-भर का सुख और सन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन : (उसकी उंगलियां पकड़कर) इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया, इसके पहले जो कुछ था और बाद को जो कुछ होगा।

शीला : सब इसी एक दिन में मिल जाएगा, क्यों ?

निरंजन : इसी एक दिन…

[दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं।]

[पर्दा गिरता है।]

शुभ्र पुरुष

सुमित्रानन्दन पन्त

[उत्सव वाद्य संगीत]

पुरुष स्वर : राजहंस भरते उड़ान शुचि शुभ्र चतुर्दिक्
श्वेत कमल की पंखुड़ियाँ बरसा जन-पथ पर,
स्वर्णिम पंखों की शत उज्ज्वल आभाओं से
नव स्वप्नों की दिव्य सृष्टि कर भू-मानस् में !
विचरण करतीं व्योम-कक्ष में सुरबालाएँ
ज्योत्स्ना का रुपहला रेशमी अञ्चल फहरा
हँसता शारद चन्द्र घनों के अन्तराल से
शुभ्र चेतना-ज्वार उठा जीवन-सागर में !
रजत घंटियाँ बजतीं अम्बर में कल-ध्वनि भर
झरते अश्रुत स्वर ताराओं की वीणा से !
हिम-शिखरों पर शशि-किरणों की छायाएँ कँप
फहरातीं शत रंग ग्रथित बन्दनवारों-सी !
आज चिरस्मरणीय दिवस है शुभ्र पुरुष की
वर्ष-गाँठ का : धरती पर अवतरित हुआ जो
नव युग की आत्मा बनकर जन-मंगल के हित !
सदाचार के शुभ्र चरण धर जिसने भू को
फिर चिर पावन किया अमर पद-चिह्नों से निज !
जन्मोत्सव हैं आज मनाते हर्षित सुर-नर
विश्व-प्रकृति के प्रांगण में स्मित पुष्प-वृष्टि कर !
जय-निनाद से मुखरित है जन-भारत का नभ,
फहराता है मुक्त तिरंगा रंग-तरंगित,
मंगल गायन-वादन से गूंजित है भू-तल !

[मंगल वाद्य ध्वनि]

समवेत गान : जय जय हे, युग मानव, जय हे !
स्वर्ग-शिखर से विचरे भू पर
आत्मतेज-मय तुम निर्भय हे !
कोटि जनों के कंठ-गान बन
कोटि मनों के मर्म-प्राण बन
जन-जीवन प्रांगण में लाए
तुम नव अरुणोदय हे !
सत्य खोजने आए जग में
स्वर्ण लुटाने जन के मग में,
देवों का बल लाए सँग में
जय चिर मंगलमय हे !
तप से पावन स्वर्ण-शुभ्र तन
सत्य शुभ्र सत्कर्म वचन मन,
स्वर्ग-धरा का करने आए
शुभ्र पुरुष, परिणय हे !

[हर्ष वादन]

स्त्री स्वर : पराधीन थी सदियों से जब स्वर्ण-धरा यह
दैन्य-दासता के श्रृंखल जकड़े थे तन को;
घोर अविद्या के तम से पीड़ित थे जन-गण,
रूढ़ि-रीति के प्रेत युद्ध करते थे मन में !
घेरे थे विश्वास अन्ध आकाश-बेलि से,
मुंड-मुंड में थी विभक्त लघु-लोल चेतना ।
स्वार्थों में रत वर्ग, क्षुधित शोषित थी जनता,
पद-लुंठित जीवन-गौरव, मृत मानव आत्मा ।

छाई थी जब विकट निराशा की निष्क्रियता,
वीर्यहीन थी भारत-भू, भूपति विलास-रत,
प्रकट हुए थे लोक-पुरुष तुम आत्मतेज-मय
अन्धकार को चीर हुआ हो नव स्वर्णोदय !

देख धरा को तमोग्रस्त, तुम करुणा-विगलित,
जीवन-रण में बने दिव्य सारथि फिर जन के,
महा जागरण-मन्त्र उच्चरित कर श्रीमुख से
युग-युग से निद्रित, जीवन्मृत महाजाति को
जाग्रत् तुमने किया पुनः निज रहस शक्ति से !
स्वाभिमान भर जन में, क्षण में किया संगठित
नव्य राष्ट्र में उन्हें, स्वर्गवत् मातृभूमि के
प्रीति-पाश में बांध, विरत कर लघु स्वार्थों से!
महापुरुष, निज अभय-दान से नव्य प्राण भर,
कंकालों को दिया मनुज का गौरव तुमने,
युग-युग के घन अन्धकार से बाहर लाकर
मृत्यु-भीत जन-गण को दिखलाया प्रकाश नव!
और एक दिन प्राणोद्वेलित जन-समुद्र को
मुक्त तिरंगे के नीचे समवेत कर पुनः
उन्हें अहिंसात्मक अद्भुत रण-कौशल सिखला
छिन्न कर दिए तुमने युग के पाश पुरातन !
एक रात में मौन गगन हो उठा निनादित
अगणित कंठ रटित वन्देमातरम् मन्त्र से !
धन्य सिद्ध जन-नायक, तुम कर गए पराजित
चिर अजेय साम्राज्यवाद की लौह शक्ति को
क्षण में, सौम्य अहिंसा के मंगलमय बल से,
प्रेमामृत से गरल घृणा का अपहृत करके !

सिन्धु तरंगों से गर्जन भर भारत के जन
आज तुम्हारा गौरव गाते हर्ष उच्छ्वसित;

[स्तवन वाद्य]

समवेत गान : जन जन-भारत भाग्य-विधाता,
लोक-मुक्ति वरदाता!
प्रजातन्त्र भारत के जन-गण,
गाते गौरव-गाथा!
जय स्वतन्त्रता के रण-नायक
महाजाति के नव उन्नायक,
भूगौरव, जन राष्ट्र-विधायक,
जय युग-मन के ज्ञाता!
वीर, अहिंसा-रत व्रतधारी,
धीर, सत्य के असि-पथचारी,
दैन्य दासता के भय-हारी,
जय जीवन-तम त्राता!
श्रद्धांजलि देते नर-नारी,
जय जय राष्ट्र-पिता बलिहारी
तपःपूत मन, जन-हितकारी
नव जीवन निर्माता!

[अभिवादन संगीत]

पुरुष स्वर : धन्य हुई यह मातृ धरा : युग-लक्ष्मी फिर से
आज इसे अभिषेकित करती जन-गण-मन के
सिंहासन पर : अभिनन्दित करती नव युग की
ऊषा, इसके गौरव-दीपित रजत-भाल पर
स्वर्ण-शुभ्र किरणों का जगमग ज्योति-मुकुट धर!
वृद्ध देश, हिम-श्वेत श्मश्रु, स्मित, शोभित जो नित
पुरुष पुरातन-सा विकास-प्रिय इस पृथ्वी पर,

संजीवन पा आज जनों का यौवन उसके
मूर्त्तिमान् हो रहा पुनः नव लोक-तन्त्र में !
जय-निनाद करता जन-सागर उमड़ चतुर्दिक्
हर्ष-तरंगित अपने शत-शत शीश उठाये,
फहराता विजयी तिरंग-ध्वज इन्द्रधनुष-सा
दिग्-दिगंत में रंग छटाएँ बरसा अगणित
पुष्प-वृष्टि करते हों ज्यों नभ से फिर सुर-गण !
महाभूमि यह, जिसके श्री-विराट् प्रांगण में
प्रथम सभ्यता विहँसी भू पर भू-प्रकाश-सी,
जिसकी निभृत गुहाओं में पहले मनुष्य को
आत्मोन्मेष हुआ : युग-द्रष्टा ऋषि-गण विचरे
स्वर्ग-शिखा ले जहाँ सत्य की अमर खोज में :
जिसके ज्योतिर्मय मानस-पलने में पलकर
धर्म, ज्ञान, संस्कृतियाँ शतशः फैलीं जग में,
जिसके दर्शन के स्फटिकोज्ज्वल शुभ्र सौध में
स्वतः अवतरित हो मंगलमय पुरुष परात्पर
वास कर रहे मूर्त सत्य से जन-मन नभ में :
राम, कृष्ण, गौतम लोटे जिसकी शुचि रज पर,
अभिवादन करते जन-गण उस दिव्य भूमि का
आज पुनः दिक् प्रतिध्वनित उल्लसित स्वरों में
'वन्दे मातरम्
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम् !'
तपोभूमि यह, राजतन्त्र के युग में जिसने
राम-राज्य का पूर्णादर्श दिया जगती को;
आज असंख्य विमुग्ध लोक-नयनों से निर्मित
नव-युग तोरण से प्रवेश कर रही पुनः वह
जन-मन-दीपित धरा चेतना के प्रांगण में

लोक-साम्य के द्यौ-चुम्बी प्रासाद में महत्,
सर्व-भूत में फिर अपने को अनुभव करने !

स्वर्ग-खंड यह, हाय, शम्भु-सा समाधिस्थ हो
विचरण करता रहा कहाँ तब मध्य युगों में
आत्मा के सोपानों में खो ऊर्ध्व, ऊर्ध्वतर
आत्मोल्लास प्रमत्त, जगत के प्रति विरक्त हो ?
जीवन-मन के सकल कर्म-व्यापार त्याग कर
यह निःस्पृह, निश्चेष्ट, शून्य, निःसंज्ञ बन गया
स्थाणु सदृश क्यों ? बाह्य अचेतन स्थिति में अपनी
दैन्य, दासता, दुःख, अविद्या के वन्धन से
वेष्टित, सहता रहा आत्म-पीड़न क्या केवल
जग-भू का विष धारण करने नीलकंठ में ?

[कालयापन-सूचक संगीत]

स्त्री स्वर : जाग रहा फिर राष्ट्र-पिता के मन का भारत,
जाग रही फिर आत्म-भूति, अन्तःप्रकाश से
अपने संग सोई धरती को चेतन करने !
जन-हिताय निर्माण कर रही वह नव जीवन
लोक-तन्त्र की सुदृढ़ नींव रख अन्तरैक्य पर,
स्वर्ण-ज्योति-चुम्बी धर शिर पर कलश सत्य का !

विचरण करे प्रजा युग अभिनव जन-भारत में
दूर-दूर तक शिक्षा-संस्कृति का प्रकाश भर,
सुख-वैभव की स्वर्णिम किरणों से कर मंडित
झाड़-फूंस के भग्न घरौंदों को, युग-युग से
दैन्य अविद्या के तम से जो त्रस्त-ग्रस्त हैं !
नंगे, भूखे, रुग्ण अस्थि-पंजर गत युग के

जहाँ रेंगता भार ढो रहे भू-जीवन का
वर्ग-सभ्यता के उस निचले नरक में, जहाँ
अन्न-वस्त्र का घोर अभाव रहा अनादि से,
और सभ्यता-संस्कृति की स्वर्ग-स्मित किरणें
पैठ न सकीं जहाँ, जीवन-आह्लाद कभी भी
पहुँच नहीं पाया, जन-मन का नीरव रोदन
मात्र हृदय-संगीत रहा उच्छ्वसित, अतन्द्रित !

आज तुम्हारा नव भारत निज रक्त-दान से
पुण्य-स्नात कर धरती के जन का विषण्ण मुख
सर्वप्रथम सौन्दर्य प्रसन्न करे मानव को !
उसकी चिर वसुधैव-कुटुम्बक मातृ-क्रोड़ में
एक अहिंसक मानवता ले जन्म आत्म-स्मित,
नई चेतना की प्रतिनिधि हो जो भू के हित !
विविध मतों, वर्गों, राष्ट्रों में बिखरे जन को
मनुष्यत्व में बाँध नवल भू-स्वर्ग रचे वह !
जीवन का ऐश्वर्य प्रेम आनन्द उतर कर
अन्तर्मानस से, महिमा मूर्तित हो जिसमें :
युद्ध-दग्ध जन-भू पद व्यापक लोकतन्त्र का
नव आदर्श करे स्थापित वह सर्व, समन्वित,
अभिनव मानव-लोक सृजन कर नर-देवों हित !
युग-युग तक गायें भारत-जन एक कंठ हो
'जन-गण-मन-अधिनायक जय हे
भारत-भाग्य-विधाता !'
[स्तवन संगीत : भारत वन्दना]

समवेत गान : जयति जयति ज्योति भूमि,
जय भारत ज्योति देश !

ज्योति-शिखर हिमवत् मन,
ज्योति द्रवित सुरसरि सन,
ज्योतित कर धरणि सकल,
हरे विश्व-तमस-क्लेश !
उठो, उठो, नवल तरुण,
तिमिर चीर जगो अरुण,
भेद-भीति तजो, बँधो
लोक-प्रीति में अशेष !
ज्योति-पुरुष खड़े द्वार,
तुम्हें फिर रहे पुकार,
स्वर्ग हव्य करो दान
उत्सुक जग के प्रदेश !
[तानपूरे के स्वर]

पुरुष स्वर : नग्न नृत्य करती थी हिंसा जब पृथ्वी पर
भौतिकता से जर्जर था जन-भू का जीवन;
महानाश का पावक बरसाता था अम्बर,
तुमुल रण-ध्वनि से कँपता था दीर्ण दिगन्तर !
राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से, स्पर्धा-लिप्सा से
दुर्वह था जब जन-धरणी में जीवन-यापन,
घोर अनैतिकता छायी थी मनोजगत् में,
बिखर रहे थे शिखर सनातन आदर्शों के,

सदाचार की रजत शिखा ले, आए थे तुम
युग-प्रतीक बन भारतीय चेतना के पुनः,
सत्य साम्य से मार्ग-प्रदर्शन करने जन का,
अमृत-स्पर्श से आहत जगती के व्रण भरने,
मधुर अहिंसा का सन्देश सुनाने भू को !

धन्य मर्त्य के अमर पान्थ, तुम निखिल धरा को
बाँध गए नव मनुष्यत्व के स्वर्णपाश में !

(आह्वान संगीत)

समवेत गान : शुभ्र चरण धरो पान्थ,
शुभ्र चरण धरो !
अंकित कर ज्योति-चिह्न
जीवन-तम हरो !

विश्व वारि हैं अशान्त
जन-जीवन ध्येय भ्रान्त
कर्णधार बनो, धीर,
क्षुब्ध नीर तरो !

आर-पार अन्धकार,
रुद्ध आज हृदय द्वार,
व्यथा-भार हरो देव,
भेद अमिट करो !
मंगलमय तुम उदार
सुनो आर्त-जन-पुकार
पावन की अंजलि भर
वितरण हवि करो !
[तानपूरे के स्वर]

स्त्री स्वर : धन्य हुई जन धरणी यह, अवतरित हुए तुम
मर्त्यलोक में फिर देवोपम गरिमा लेकर,
विचरे मेरु-शिखर से नव किरणों से भूषित
शुभ्र काय-मन, नव्य चेतना की ज्वाला को
जन-मन में दीपित करने, करुणा-प्रेरित हो !

बाँध गए नव संस्कृति में तुम विश्व-जनों को
मनुष्यता का मुख नव महिमा से मंडित कर,
नर चरित्र का रूपान्तर कर, जन-गण-मन को
श्रद्धा से पावन, धरणी को स्वर्ग-स्नात कर !
किन शब्दों में श्रद्धांजलि दें आज हृदय की,
देव, महामानव, हे राष्ट्र-पिता हम तुमको !
वाष्पाकुल हैं नयन, हर्ष श्रद्धा-गद्‌गद स्वर,
प्रीति-प्रणत शत-शत प्रणाम हों स्वीकृत जन के !

[स्तवन संगीत]

समवेत गान : जय नव मानव, जय भव मानव !
स्वर्ग-दूत नव मानवता के
विचरो ज्योति-शिखा ले अभिनव !
प्रीति-पाश में बाँधो जन-मन
श्रद्धा-पावन हो जन-जीवन,
बसो शुभ्र विश्वास-सेतु तुम,
शान्त सकल हों भव के विप्लव !
स्वर्ण-हृदय हो जन में स्पन्दित,
स्वर्ण-चेतना से भू मंडित,
अमृत-स्पर्श से हरो मृत्यु-तम,
जन-मंगल हो, जीवन उत्सव !
शुभ्र सत्य का हो जन-मन-पथ,
शुभ्र अहिंसा का जीवन-व्रत,
विश्व-ग्लानि में नव प्रकाश-बन
निखरो, शुभ्र पुरुष, युग-सम्भव !

• • •

परिशिष्ट

आधुनिक नाटक की विशेषता उसका यथार्थवाद ही है, और पाश्चात्य परम्परा में उसका संस्थापक इब्सन ही माना जा सकता है। पश्चिम में प्रारम्भिक नाटक मुख्यतया काव्यमय था। सोलहवीं शती में वहां सुखान्त नाटकों में गद्य का प्रवेश हुआ; अठारहवीं शती में मध्यवर्ग के उत्थान के साथ नाटकों के समकालीन कथानकों की मांग होने लगी और गद्य-प्रधान हो गया। यहीं से आधुनिक यथार्थवादी गद्य-नाटक का आरम्भ होता है, तथापि कविता की ओर उसका झुकाव हमेशा रहता ही आया हैं और आज भी कहा जा सकता हैं कि उसके दो मुख्य विभाग है। एक ओर 'अवेस्थानुकृति' करनेवाला यथार्थवादी दृश्याभिनय का नाटक, जिसका झुकाव मनोरंजन की ओर है, दूसरी ओर काव्यात्मक नाटक जिससे नाटक साहित्य को भावात्मक और आध्यात्मिक शक्ति मिलती है। काव्यात्मक प्रवृत्तियों से मिलनेवाली शक्ति का विशेष महत्त्व है; क्योंकि यथार्शवादी नाटक में यह आशंका बनी रहती है कि निरे विधान-कौशल के पीछे वैचारिक दुर्बलता छिप जाए, और यथार्थवाद की ओट में यथार्थ की उपेक्षा हो जाए।

आधुनिक रंगमंच यथार्थवादी और भावात्मक दोनों प्रकार के नाटकों को स्वीकार करता है; नाटक के उद्देश्य और मूल भावना के अनुसार ही कोई भी शैली अपनाई जा सकती है, और उसकी परख में यही देखना होता है कि वह भावना या उद्देश्य उस रूप में कहां तक सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है।

'अज्ञेय' : 'वसन्त'

प्रस्तुत संकलन का पहला एकांकी भाव-प्रधान और काव्यमय है; उस

की आधुनिकता इसीमें है कि वह एक पात्र के मानसिक संघर्ष का उद्घाटन करता है। 'वसन्त १' और 'वसन्त २' मुख्य पात्र की ही चेतना के दो पक्ष हैं। एक ओर जीवन का उल्लास, उसकी आकांक्षा और आशामयता है, दूसरी ओर जीवन का अनुभव, उसके ढर्रे का भार और उसकी विरसता। मानव का अदम्य जीवन-प्रेम और उसके व्यक्तित्व का लचकीलापन इन दोनों में सन्तुलन स्थापित करता है, 'जो नहीं है' उसके दुःख से परास्त न होकर 'जो है' उसके सहारे जीवन आगे बढ़ता है। जीवन कठोर होकर भी आशामय है और हमें आप्यायित कर सकता है। यही उसका भाव-सत्य है।

नाटक में घटना लगभग कुछ नहीं है। उसमें तनाव आता है दोनों वसन्तों के आने से स्त्री के आन्तरिक संघर्ष की सूचना द्वारा; पति से बात-चीत में वह संघर्ष तीव्र होता है, बालक के मां को ही वसन्त कहने पर उसका शमन आरम्भ होता है और अन्त तक सम्पूर्ण हो जाता है।

'अज्ञेय' का क्षेत्र मुख्यतया आख्यान-साहित्य ही रहा है, पर उनकी कहानियों में नाटकीय तत्त्व पाए जाते हैं, और कहीं-कहीं कविता में भी तीव्र नाटकीय स्थिति सूचित होती है : ब्राउनिंग के नाटकीय गीतों और भाषणों से उनकी तुलना उपादेय हो सकती है। प्रस्तुत एकांकी भावप्रवण, काव्यमय नाटक का एक नमूना है।

भारतभूषण अग्रवाल : 'महाभारत की एक सांझ'

इस नाटक का आधार यद्यपि पौराणिक घटना पर स्थित है, तथापि नाटककार की दृष्टि की आधुनिकता स्पष्ट है। दुर्योधन की चेतना में पैठकर नाटककार हमारी परिचित वस्तु को एक नये प्रकाश में सामने रखता है; अच्छे-बुरे की रूढ़ मान्यताओं को ज्यों का त्यों न स्वीकार करके मानसिक प्रक्रियाओं के उद्घाटन द्वारा कारण-कार्य की एक नई शृंखला प्रस्तुत करता है। खल के पक्ष में भी हमारी संवेदना को छूकर जगा देना नाटककार की बड़ी सफलता है। मनोवैज्ञानिक हेतुओं का अन्वेषण करने की आधुनिक प्रवृत्ति का एक परिणाम तो यह है कि पाठक पक्ष या

विपक्ष में निर्णय का स्थगित करना सीखता है, अपनी संवेदना को विस्तृत करके उन्हें भी अपनी सहानुभूति देता है जिन्हें पहले उसका पात्र नहीं मानता था।

भारतभूषण अग्रवाल ने कई सफल एकांकी और रेडियो रूपक लिखे हैं। मानसिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण के कारण वे निस्सन्देह आधुनिक कहे जा सकते हैं, यद्यपि उनके नाटकों में भी यथार्थ चित्रण की अपेक्षा भाव-सत्य पर ही अधिक आग्रह रहता है।

जगदीशचन्द्र माथुर : 'भोर का तारा'

जगदीशचन्द्र माथुर आधुनिक काल के प्रमुख नाटककारों में से हैं। 'कोणार्क' नामक नाटक तीन अंकों में पूर्ण हुआ है। एकांकी तो कई हैं, जिनमें 'मकड़ी का जाला', 'भोर का तारा' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे गये हैं, अभिनेय हैं और सफलतापूर्वक अभिनीत भी हुए हैं। कुछ नाटक यथार्थवादी परम्परा के हैं और न केवल समकालीन समाज का चित्रण करते हैं वरन् उसकी आलोचना भी; "मकड़ी का जाला' और 'रीढ़ की हड्डी' इसके उदाहरण हैं। 'भोर का तारा' भाव-प्रधान है। व्यक्ति के सुख को समष्टि के सुख में विलीन कर देना ही व्यक्ति की सिद्धि है, इस आदर्श को वह कवि शेखर के जीवनानुभव के निमित्त से प्रकट करता है। शेखर के सुखी जीवन को एक उत्कर्ष-स्थल तक पहुंचा-कर जहां वह अपनी मनोनीता पत्नी को अपना नया काव्य-उपहार देते समय अनुभव कर रहा है कि उसकी सब आकांक्षाएं सम्पूर्ण और उसका जीवन परम सुखमय है—नाटककार सहसा विधि-वैषम्य को सामने लाता हुआ उस सुख पर तीव्र प्रहार करता है : शेखर के व्यक्ति-जीवन का स्वर्ण-सौध टूटकर गिर जाता है, और अपने काव्य को वह आग में डाल देता है। ऐसे भी एकांकी होते हैं जिन्हें इस प्रकार के चरम स्थल पर लाकर छोड़ दिया जाता है; पर यहां वैसा करने से नाटक की घटना सम्पूर्ण नहीं होती, क्योंकि घटना वास्तव में उसके भाव-सत्य का दृश्य रूप ही है, और वह सत्य

यहां अभी अधूरा है। ऊपरी काव्य-प्रतिभा को प्रिया की नहीं, जाति की सेवा में लगाने का निश्चय शेखर सूचित करता है, मित्र माधव उसकी पत्नी को समझाता है कि इसी प्रकार का भोर का तारा प्रभात का सूर्य होगा; तीव्र संघर्ष इस नई आशा के स्वर में विलीन होता है और नाटक की घटना शोक-पर्यवसायी न होकर मधुर हो उठती है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'एक दिन'

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का हिन्दी नाटककारों में प्रमुख स्थान है। वल्कि कहा जा सकता है कि आधुनिक नाटक का आरम्भ उन्हींसे हुआ है। उनके नाटक व्यक्ति-जीवन की समस्याओं को लेकर उठते हैं और संभाषण की सूक्ष्म सूचकता, घटना का घात-प्रतिघात और मार्मिक चरित्र-चित्रण द्वारा नाटक की क्रिया निर्वहण की ओर बढ़ती है। एकांकियों में भी मुख्यतया समस्या-नाटक की ओर उनकी प्रवृत्ति है और पात्रों की कर्म-प्रेरणाओं का वह सुन्दर विश्लेषण करते हैं।

'एक दिन' में एक ओर परम्परा पकड़नेवाला पिता है जिसे ठीक रूढ़िवादी नहीं कहा जा सकता; दूसरी ओर आधुनिकतावादी पुत्र, जिसके सामन्तवादी संस्कार पिता के निर्मम विश्लेषण के तले उभर आते हैं; दोनों ने जिस कन्या के हित को लेकर अपने को विचित्र उलझन में डाल दिया है, उससे वह कन्या ही दोनों को उबारती है। विवाह से पहले वर द्वारा कन्या के देखे जाने के आग्रह पर ही नाटक का संघर्ष आधारित है, और 'निर्वाचन' के मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर नाटककार ने अच्छा प्रकाश डाला है।

सुमित्रानन्दन पन्त : 'शुभ्र पुरुष'

श्री सुमित्रानन्दन पंत मूलत: कवि हैं; उनकी संवेदनाएं कवि की हैं। उनके परवर्ती काव्य-संग्रहों में गीति-नाट्य भी प्रकाशित हुए हैं, पर उनमें भी गीतितत्त्व ही प्रधान रहा है। हां, वैचारिक वस्तु का महत्त्व क्रमशः

बढ़ता गया है, और हाल के संग्रहों में तो दर्शन की प्रधानता हो गई है। उनका पद्य उनके विचारों का वाहक मात्र रह गया है।

इधर रूपकों का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। यह रूपक रेडियो द्वारा प्रसार के लिए ही लिखे गए थे और दृश्य की अपेक्षा श्रव्य अधिक हैं। 'शुभ्र पुरुष' इन्हींमें से एक है। महात्मा गांधी को लक्ष्य करके इसकी रचना हुई है; और मानव-चेतना की उन्नति में गांधीजी के अवदान का स्तवन उसका उद्देश्य है। इस प्रकार का एकांकी नाटक का मुख्य प्रकार तो नहीं हो सकता, पर काव्यमयता अभिनय को आध्यात्मिक गहराई देती है और ऐसे नाटकों से श्रोता या दर्शकों का रुचि-संस्कार भी होता है। पन्तजी की भाषा अत्यन्त प्रतीकमयी है और उनके नाटकों का वैचारिक तत्त्व समझने के लिए उन प्रतीकों को समझना आवश्यक है।
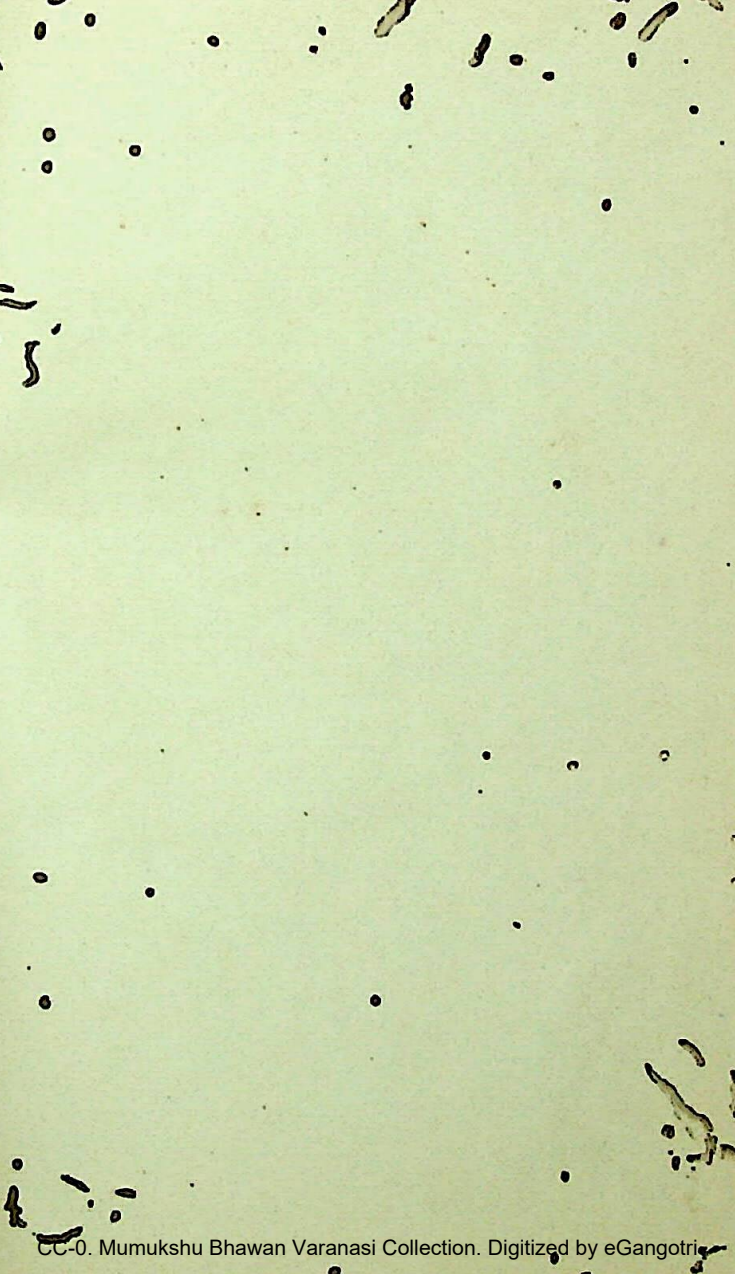
० ० ०

हमारा नाट्य साहित्य
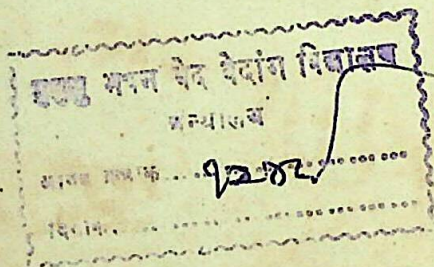
आषाढ का एक दिन	मोहन राकेश
पैर तले की ज़मीन	मोहन राकेश
कंचनजंघा (फिल्मी नाटक)	सत्यजित राय
पृथ्वी का स्वर्ग	डा० रामकुमार वर्मा
सारंग-स्वर	"
जुही के फूल (एकांकी-संग्रह)	"
अग्नि-शिखा	"
संत तुलसीदास	"
करफ्यू	डा० लक्ष्मीनारायण लाल
अब्दुल्ला दीवाना	"
व्यक्तिगत	"
कल, आज और कल	हरचरण सिंह
युगे-युगे क्रांति	विष्णु प्रभाकर
डाक्टर	"
रक्तदान	हरिकृष्ण प्रेमी
[illegible]ता	"
न्याय की रात	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
अशोक	"
शिव-धनुष	डा० चन्द्रशेखर
कलापूर्ण एकांकी	सं० डा० दशरथ ओझा
अभिनव एकांकी	सं० महेन्द्र कुलश्रेष्ठ
नये एकांकी	सं० अज्ञेय
श्रेष्ठ एकांकी	सं० कृष्ण विकल

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली